अथ तृतीयोऽध्यायः

[प्रथममाह्निकम्]

इन्द्रियव्यतिरिक्तात्मपरीक्षाप्रकरणम् [१-३]

परीक्षितानि प्रमाणानि, प्रमेयमिदानीं परीक्ष्यते। तच्चात्मादीत्यात्मा विविच्यते—किं देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनासङ्घातमात्रमात्मा? आहोस्वित् तद्व्यतिरिक्त इति? कुतस्ते संशयः? व्यपदेशस्योभयथा सिद्धेः। क्रियाकरणयोः कर्त्रा सम्बन्धस्याभिधानं व्यपदेशः। स द्विविधः—अवयवेन समुदायस्य—मूलैर्वृक्षस्तिष्ठति, स्तम्भैः प्रासादो ध्रियते इति। अन्येनान्यस्य व्यपदेशः—परशुना वृश्चति, प्रदीपेन पश्यति। अस्ति चायं व्यपदेशः—चक्षुषा पश्यति, मनसा विजानाति, बुद्ध्या विचारयति, शरीरेण सुखदुःखमनुभवतीति। तत्र नावधार्यते—किमवयवेन समुदायस्य देहादिसङ्घातस्य? अथान्येनान्यस्य तद्व्यतिरिक्तस्य वेति?

अन्येनायमन्यस्य व्यपदेशः। कस्मात्?

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्॥ १॥

दर्शनेन कश्चिदर्थो गृहीतः, स्पर्शनेनापि सोऽर्थो गृह्यते-'यमहमद्राक्षं चक्षुषा तं स्पर्शनेनापि स्पृशामीति, यं चास्प्राक्षं स्पर्शनेन तं चक्षुषा पश्यामि' इति। एकविषयौ चेमौ प्रत्ययावेककर्तृकौ प्रतिसन्धीयेते, न च सङ्घातकर्तृकौ, नेन्द्रियेणैककर्तृकौ। तद्योऽसौ चक्षुषा त्वगिन्द्रियेण चैकार्थस्य ग्रहीता भिन्ननिमित्तावनन्यकर्तृकौ प्रत्ययौ समानविषयौ प्रतिसन्दधाति, सोऽर्थान्तरभूत आत्मा।

कथं पुनर्नेन्द्रियेणैककर्तृकौ? इन्द्रियं खलु स्वस्वविषयग्रहणमनन्यकर्तृकं प्रतिसन्धातुमर्हति, नेन्द्रियान्तरस्य विषयान्तरग्रहणमिति। कथं न सङ्घातकर्तृकौ? एकः खल्वयं भिन्ननिमित्तौ स्वात्मकर्तृकौ प्रत्ययौ प्रतिसंहितौ वेदयते, न सङ्घातः। कस्मात्? अनिर्वृत्तं हि सङ्घाते प्रत्येकं विषयान्तरग्रहणस्याप्रतिसन्धानमिन्द्रियान्तरेणेवेति॥ १॥

न, विषयव्यवस्थानात्?॥ २॥

न देहादिसङ्घातादन्यश्चेतनः। कस्मात्? विषयव्यवस्थानात्। व्यवस्थितविषयाणीन्द्रियाणि-चक्षुष्यसति रूपं न गृह्यते, सति च गृह्यते। यच्च यस्मिन्नसति न भवति सति भवति, तस्य तदिति विज्ञायते। तस्माद् रूपग्रहणं चक्षुषः—चक्षू रूपं पश्यति। एवं घ्राणादिष्वपीति। तानीन्द्रियाणीमानि स्वस्वविषयग्रहणाच्चेतनानि; इन्द्रियाणां भावाभावयोर्विषयग्रहणस्य तथाभावात्। एवं सति किमन्येन चेतनेन?

सन्दिग्धत्वादहेतुः। योऽयमिन्द्रियाणां भावाभावयोर्विषयग्रहणस्य तथाभावः, स किमयं चेतनत्वात्? आहोस्वित् चेतनोपकरणानां ग्रहणनिमित्तत्वात्? इति सन्दिह्यते। चेतनोपकरणत्वेऽपीन्द्रियाणां ग्रहणनिमित्तत्वाद् भवितुमर्हति॥ २॥

तृतीय अध्याय

[प्रथममाह्निकम्]

प्रमाणों की परीक्षा हो चुकी, अब प्रमेयों की परीक्षा प्रारम्भ की जा रही है। उन प्रमेयों में आत्मा प्रधान है, अतः सर्वप्रथम आत्मा का ही विवेचन किया जा रहा है। क्या देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वेदना—इनका समूहमात्र 'आत्मा' है? या इनसे भिन्न कोई आत्मा है? यह संशय क्यों हुआ? लोक में उक्त दोनों ही प्रकारों में व्यपदेश (व्यवहार) देखा जाता है। क्रिया तथा करण से कर्ता के सम्बन्धकथन को 'व्यपदेश' कहते हैं। वह दो प्रकार का है—१. अवयव से समुदाय का व्यपदेश, जैसे—'जड़ के कारण वृक्ष खड़ा है' या 'स्तम्भों के कारण महल खड़ा है' आदि; तथा २. दूसरे से दूसरे का व्यपदेश, जैसे—'परशु द्वारा काटता है', 'दीपक द्वारा देखता है' आदि। इसमें समुदाय एवं समुदायी का सम्बन्ध नहीं है। कर्ता एवं करण पृथक् हैं। प्रकृत में यह व्यपदेश होता है—'चक्षु से देखता है', 'मन से समझता है', 'बुद्धि से विवेचन करता है', 'शरीर से सुख दुःख का अनुभव करता है'—आदि। यहाँ यह निश्चय नहीं हो पाता कि अवयव से देहादिसङ्घात का व्यपदेश है, या अन्य से अन्य का व्यपदेश?

यह अन्य से अन्य का व्यपदेश है; क्योंकि—

दर्शन, स्पर्शन द्वारा एक ही पदार्थ का ग्रहण होता है॥ १ ॥

दर्शन (चक्षुरिन्द्रिय) द्वारा जो अर्थ गृहीत हुआ, वही स्पर्शन (त्वगिन्द्रिय) से भी गृहीत होता है, जैसे—'जिसको मैंने पहले आँखों देखा था आज उसे मैं छू भी रहा हूँ' या 'जिसको मैं पहले कभी छू पाया था उसे आज आँखों देख रहा हूँ'—ये दोनों ज्ञान एकविषय तथा एककर्तृक प्रतिगृहीत होते हैं, न कि सङ्घातकर्तृक या इन्द्रियविशेष द्वारा एककर्तृक हो सकते हैं। यह जो एक है और चक्षु एवं त्वगिन्द्रिय से एकार्थ का ग्रहण करता है वह प्रमाता 'ये दोनों ज्ञान भिन्नेन्द्रियनिमित्तक अनन्यकर्तृक (आत्मकर्तृक) तथा समानविषय वाले हैं'—ऐसा प्रतिसन्धान करता है। वह अन्य अर्थ आत्मा है।

इन्द्रियविशेष द्वारा एककर्तृक क्यों नहीं? इन्द्रियाँ अनन्यकर्तृक स्वस्वविषयक ज्ञान की उत्पादक हो सकती हैं, न कि इन्द्रियान्तर के विषयान्तर के ज्ञान की। सङ्घातकर्तृक क्यों नहीं? यह एक ही व्यक्ति भिन्न इन्द्रियों के निमित्त वाले स्वात्मकर्तृक दो ज्ञानों का अनुसन्धान कर सकता है, यह सङ्घात नहीं हैं; क्योंकि एक सङ्घात दूसरे विषय का ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता; किन्तु अपने अपने विषय का ग्रहण करने में समर्थ है। अतः इससे भी परस्पर भिन्न इन्द्रिय की तरह से अननुसन्धान ही रहेगा?॥ १॥

शङ्का—

अन्य चेतन की आवश्यकता नहीं; क्योंकि इन्द्रियों के विषयनियम से ही काम चल जायगा?॥ २॥

देहादिसङ्घात से अन्य चेतन मानने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इन्द्रियों के विषयनियम से व्यवस्था बन जायगी। इन्द्रियाँ व्यवस्थित विषय वाली हैं—चक्षु के न रहने पर रूप का ग्रहण नहीं होता, उसके रहने पर होता है। जो जिसके न होने पर नहीं होता और जिसके होने पर होता है, वह उसका विषय होता है। इसलिये रूपज्ञान चक्षु का विषय है; क्योंकि चक्षु रूप को देखता है। इसी तरह घ्राणादि के विषय में भी समझ लेना चाहिये। ये सभी इन्द्रियाँ अपने विषय का ज्ञान करनेवाली हैं, अतः 'चेतन' है; क्योंकि इन्द्रियों के भावाभाव से उनके विषयों के ग्रहण का भावाभाव होता है। अतः दूसरा चेतन मानने की क्या आवश्यकता?

उत्तर—सन्दिग्ध होने से वह हेतु नहीं बन सकता; क्योंकि यह जो इन्द्रियों के भावाभाव से विषयज्ञान का तथात्व है, वह क्या चेतन होने से है, या चेतन कर्ता के सहकारी कारण होने से ज्ञान का

यच्चोक्तम्—विषयव्यवस्थानादिति ?

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ॥ ३ ॥

यदि खल्वेकमिन्द्रियमव्यवस्थितविषयं सर्वज्ञं सर्वविषयग्राहि चेतनं स्यात्, कस्ततोऽन्यं चेतनमनुमातुं शक्नुयात् ? यस्मात्तु व्यवस्थितविषयाणीन्द्रियाणि, तस्मात् तेभ्योऽन्यश्चेतनः सर्वज्ञः सर्वविषयग्राही विषयव्यवस्थितिमतीतोऽनुमीयते। तत्रेदमभिज्ञानमप्रत्याख्येयं चेतनवृत्तमुदाह्रियते-रूपदर्शी खल्वयं रसं गन्धं वा पूर्वगृहीतमनुमिनोति, गन्धप्रतिसंवेदी च रूपरसावनुमिनोति। एवं विषयशेषेऽपि वाच्यम्। रूपं दृष्ट्वा गन्धं जिघ्रति, घ्रात्वा च गन्धं रूपं पश्यति। तदेवमनियतपर्यायं सर्वविषयग्रहणमेकचेतनाधिकरणमनन्यकर्तृकं प्रतिसन्धत्ते, प्रत्यक्षानुमानागमसंशयान् प्रत्ययाँश्च नानाविषयान् स्वात्मकर्तृकान् प्रतिसन्दधाति, प्रतिसन्धाय वेदयते। सर्वविषयं च शास्त्रं प्रतिपद्यते। अर्थमविषयभूतं श्रोत्रस्य क्रमभाविनो वर्णान् श्रुत्वा पदवाक्यभावेन प्रतिसन्धाय शब्दार्थव्यवस्थां च बुध्यमानोऽनेकविषयमर्थजातमग्रहणीयमेकैकेनेन्द्रियेण गृह्णाति। सेयं सर्वज्ञस्य ज्ञेयाव्यवस्थाऽनुपदं न शक्या परिक्रमितुम्। आकृतिमात्रं[1] तूदाहृतम्। तत्र यदुक्तम्—'इन्द्रियचैतन्ये सति किमन्येन चेतनेन', तदयुक्तं भवति ॥ ३ ॥

निमित्त है—यह सन्देह होता है। चेतन का उपकरण होने पर भी, इन्द्रियों के ग्रहणनिमित्त (ज्ञानसाधन) होने से उक्त व्यवस्था हो सकती है ॥ २ ॥

यह जो कहा कि विषयव्यवस्था से ? यह हेतु भी असिद्ध है; क्योंकि—

तद्व्यवस्थान से आत्मा की सत्ता सिद्ध होने से प्रतिषेध नहीं बनेगा ॥ ३ ॥

यदि एक ही इन्द्रिय अव्यवस्थित विषय होती हुई सर्वज्ञरूप में सब विषयों का ग्रहण करनेवाली चेतन होती तो उससे भिन्न चेतन का अनुमान कोई क्यों करे! क्योंकि इसके विपरीत, इन्द्रियाँ व्यवस्थित विषय वाली हैं, अतः उनसे एक अन्य सर्वज्ञ, सर्वविषयग्राही, विषयव्यवस्था की परिधि के बाहर चेतन की सत्ता का अनुमान किया जाता है। चेतन की सत्ता को प्रमाणित करने के लिये यह दृढ प्रत्यभिज्ञान (असाधारण चिह्न) उदाहृत किया जा सकता है—'जिसने पहले रूप को देखा था, वही अब पूर्वगृहीत रस या गन्ध का ज्ञान कर रहा है, गन्धप्रतिसंवेदी रूप रस का अनुमान कर रहा है'। इसी तरह अन्य विषयों के विषय में कहना चाहिये—यह रूप को देखकर गन्ध सूँघता है, गन्ध सूँघकर रूप को देखता है। इस प्रकार प्रमाता अनियतक्रम सर्वविषय-ज्ञान को एक चेतन के आश्रय से तथा एककर्तृक रूप में प्रतिसन्धान करता है; प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द तथा संशयों को एवं नानाविषयक ज्ञानों को एककर्तृक रूप में प्रतिसन्धान करता है, वैसा करके जान लेता है, सर्वविषयक शास्त्र को जान लेता है! प्रमाता श्रोत्र के अगोचर अर्थ को, क्रमभावी वर्णों को सुनकर पदवाक्यभाव में प्रतिसन्धान कर शब्दार्थव्यवस्था को समझता हुआ एक ही इन्द्रिय से ग्रहण न करने योग्य अनेकविषयक अर्थों को एक एक इन्द्रिय से ग्रहण करता है। सर्वज्ञ की यह ज्ञेयव्यवस्था किसी भी तरह अतिक्रान्त नहीं की जा सकती। यों हमने सामान्यतः यह एक उदाहरण दे दिया है। अतः आप (पूर्वपक्षी—चार्वाकमतानुयायी) का यह कहना—'इन्द्रियचैतन्य के रहते अन्य चेतन मानने की आवश्यकता नहीं'—सर्वथा आयुक्त है ॥ ३ ॥

---

१. 'सामान्यमात्रमित्यर्थः। तदेतच्चेतनवृत्तं देहादिभ्यो व्यावर्तमानं तदतिरिक्तं चेतनं साधयतीति नेच्छाद्याधारत्वं देहादीनाम्' इति तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः।

शरीरव्यतिरिक्तात्मपरीक्षाप्रकरणम् [४-६]

१. इतश्च देहादिव्यतिरिक्त आत्मा, न देहादिसङ्घातमात्रम्;

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥ ४ ॥

शरीरग्रहणेन शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनासङ्घातः प्राणिभूतो गृह्यते, प्राणिभूतं शरीरं दहतः प्राणिहिंसाकृतपापं पातकमित्युच्यते, तस्याभावः; तत्फलेन कर्तुरसम्बन्धात्, अकर्तुश्च सम्बन्धात्। शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनाप्रबन्धेन खल्वन्यः सङ्घात उत्पद्यते, अन्यो निरुध्यते। उत्पादनिरोधसन्ततिभूतः प्रबन्धो नान्यत्वं बाधते; देहादिसङ्घातस्यान्यत्वाधिष्ठानत्वात्। अन्यत्वाधिष्ठानो ह्यसौ प्रख्यायत इति। एवं च सति यो देहादिसङ्घातः प्राणिभूतो हिंसां करोति, नासौ हिंसाफलेन सम्बध्यते; यश्च सम्बध्यते न तेन हिंसा कृता। तदेवं सत्त्वभेदे कृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्यते। सति च सत्त्वोत्पादे, सत्त्वनिरोधे चाकर्मनिमित्तः सत्त्वसर्गः प्राप्नोति, तत्र मुक्त्यर्थो ब्रह्मचर्यवासो न स्यात्। तद्यदि देहादिसङ्घातमात्रं सत्त्वं स्यात्, शरीरदाहे पातकं न भवेत्! अनिष्टं चैतत्। तस्माद् 'देहादिसङ्घातव्यतिरिक्त आत्मा नित्यः' इति ॥ ४ ॥

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि; तन्नित्यत्वात् ? ॥ ५ ॥

यस्यापि नित्येनात्मना सात्मकं शरीरं दह्यते, तस्यापि शरीरदाहे पातकं न भवेद्दग्धुः। कस्मात् ? नित्यत्वादात्मनः। न जातु कश्चिन्नित्यं हिंसितुमर्हति, अथ हिंस्यते ? नित्यत्वमस्य न भवति। सेयमेकस्मिन् पक्षे हिंसा निष्फला, अन्यस्मिंस्त्वनुपपन्नेति ? ॥ ५ ॥

---

१. इस कारण भी देहादिसङ्घात नहीं, अपितु देहादिव्यतिरिक्त ही आत्मा है;

शरीर-दाह में पातक न होने से ॥ ४ ॥

सूत्र में 'शरीर' से शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, वेदनासमूहरूप प्राणी से तात्पर्य है। शास्त्र में प्राणमय शरीर को जलाने में प्राणिहिंसा कृत पाप 'पातक' कहा गया है (केवल शरीर को जलाने से पातक नहीं लगता) उसका अभाव होगा; क्योंकि उस फल से कर्ता का सम्बन्ध नहीं अकर्ता का सम्बन्ध रहता है। शरीर-इन्द्रिय-बुद्धि-वेदना-प्रवाह से अन्य सङ्घातात्मक शरीर दूसरा उत्पन्न होता है, वह फलभोक्ता है। अन्य सङ्घात निरुद्ध (मृत) होता है, उत्पादनिरोधरूप प्रवाह देह के अन्यत्व का बाध, देहादिसङ्घात में ही अन्यत्व का अधिष्ठान (भेदाधारत्व) होने से, नहीं कर सकता। 'यह देहेन्द्रियादिसङ्घात अन्यत्व का अधिष्ठान प्रसिद्ध है'—इस मत में जो प्राणिभूत देहादिसङ्घात हिंसा करता है, वह हिंसा के पातक से सम्बद्ध नहीं होगा, तथा जिसने हिंसा नहीं की उसे वह पातक लगेगा—इस तरह आपके पक्ष में कृतहान (कर्ता के नाश से कृत फल का असम्बन्ध) तथा अकृताभ्यागम दोष (अकर्ता को शरीरान्तर में अकृत फल की प्राप्ति) होने लगेगी। और अकर्मनिमित्तक ही सत्त्वोत्पत्ति होने लगेगी, तब मोक्ष के लिये ब्रह्मचर्यादि की क्या आवश्यकता रह जायगी! अतः यह सिद्ध हुआ यदि देहादिसङ्घातमात्र को प्राणी मानोगे तो शरीरदाह में पातक न होगा, जब कि यह शास्त्रविरुद्ध है। तस्मात् 'देहातिसङ्घातव्यतिरिक्त आत्मा है, तथा वह नित्य है'—यही मत उचित है ॥ ४ ॥

शङ्का—

सात्मक शरीर के प्रदाह में पातक नहीं होगा; क्योंकि आत्मा नित्य है ? ॥ ५ ॥

जिसने नित्य आत्मा से संयुक्त शरीर जलाया है, उसके जलने पर भी जलाने वाले को पाप नहीं लगना चाहिये; क्योंकि आत्मा तो नित्य है, नित्य को कभी कोई जला सकता है! यदि यह जल

न; कार्याश्रयकर्तृवधात् ॥ ६ ॥

न ब्रूमः—'नित्यस्य सत्त्वस्य वधो हिंसा', अपि त्वनुच्छित्तिधर्मकस्य सत्त्वस्य कार्याश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्तृणामिन्द्रियाणामुपघातः पीडा, वैकल्यलक्षणः प्रबन्धोच्छेदो वा, प्रमापणलक्षणो वधो वा हिंसेति। कार्यं तु सुखदुःखसंवेदनम्, तस्यायतनमधिष्ठानमाश्रयः शरीरम्; कार्याश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्तृणामिन्द्रियाणां वधो हिंसा, न नित्यस्यात्मनः। तत्र यदुक्तम्—'तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात्' इत्येतदयुक्तम्। यस्य सत्त्वोच्छेदो हिंसा, तस्य कृतहानमकृताभ्यागमश्चेति दोषः।

एतावच्चैतत् स्यात्—सत्त्वोच्छेदो वा हिंसा, अनुच्छित्तिधर्मकस्य सत्त्वस्य कार्याश्रयकर्तृवधो वा; न कल्पान्तरमस्ति। सत्त्वोच्छेदश्च प्रतिषिद्धः, तत्र किमन्यच्छेषं यथाभूतमिति।

अथ वा[1]—कार्याश्रयकर्तृवधादिति, कार्याश्रयो देहेन्द्रियबुद्धिसङ्घातः; नित्यस्यात्मनस्तत्र सुखदुःखप्रतिसंवेदनं तस्याधिष्ठानमाश्रयः तदायतनं तद् भवति न ततोऽन्यदिति स एव कर्ता। तन्निमित्ता हि सुखदुःखसंवेदनस्य निर्वृत्तिः न तमन्तरेणेति। तस्य वधः, उपघातः, पीडा,

---

जाता है तो इसमें नित्यत्व कैसा? इस प्रकार यह हिंसा (दोनों पक्षों में से) एक पक्ष में निष्फल है और दूसरे में तो बनेगी ही नहीं? ॥ ५ ॥

उक्त प्रतिषेध उचित नहीं; क्योंकि हम शरीर तथा तदाश्रयभूत इन्द्रियों के उच्छेद को 'हिंसा' कहते हैं ॥ ६ ॥

हम (आस्तिक दर्शनकार) यह नहीं कहते कि नित्य द्रव्य का वध 'हिंसा' है, अपितु अनुच्छिन्न हो कर रहने वाले धर्म के सम्बन्धी आत्मा के कार्याश्रय शरीर का, तथा स्वविषयोपलब्धि की कर्ता इन्द्रियों का उपघात=पीड़ा, उनमें विकलता लाने वाला प्रवाहविच्छेद या विनाशलक्षण वध हमारे मत में हिंसा है। यहाँ सुखदुःखसंवेदन कार्य है, उसका अधिष्ठान=आश्रय शरीर है। ऐसे कार्याश्रय शरीर का, तथा स्वविषय ज्ञान को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों का वध 'हिंसा' है, न कि नित्य आत्मा का। अतः पूर्वपक्षी ने 'सात्मक शरीरप्रदाह में भी पातक नहीं होता; क्योंकि आत्मा नित्य है'—यह जो कहा था वह अयुक्तियुक्त है।

एक बात और है—सत्त्वोच्छेद को ही हिंसा माना जाय तो अकृताभ्यागम आदि दोष हो सकता है। वह हम मानते नहीं, क्योंकि पूर्वपक्षी ने ही उसका खण्डन किया है। अतः हिंसापदार्थ कोई दूसरा ही मानना चाहिये। हिंसा दो तरह से ही बन सकती है—१. या तो सत्त्वोच्छेद को हिंसा मानें; २. या फिर अनुच्छिन्नधर्मक के कार्याश्रयभूत शरीर या इन्द्रियों के उच्छेद को हिंसा मानें। तीसरा कोई विकल्प नहीं। यहाँ सत्त्वोच्छेद का तो तुमने भी उसे नित्य मान कर प्रतिषेध ही कर दिया, अब दूसरे विकल्प वाली हिंसा मानने के अतिरिक्त कौन मार्ग है?

अथवा—'कार्याश्रयकर्तृवधात्' पद का व्याख्यान यों समझना चाहिये—कार्याश्रय हुआ देहेन्द्रियबुद्धिसङ्घात। शरीर में रहने वाले नित्य आत्मा के सुखदुःखप्रतिसंवेदन कार्य हैं, अतः उनका सङ्घात अधिष्ठान है, वही सङ्घात तदायतन है अन्यायतन नहीं, अतः वही (देहेन्द्रियसङ्घात) कर्ता है, उक्त संवेदन की निर्वृत्ति तन्निमित्तक ही है, न कि उसके बिना। अतः उस देहेन्द्रियसङ्घात का

---

१. वार्तिककर्तुरप्येतद् व्याख्यानपक्षं सम्मतमिति ध्येयम्।

प्रमापणं वा=हिंसा, न नित्यत्वेनात्मोच्छेदः। तत्र यदुक्तम्—'तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात्' एतन्नेति ॥ ६ ॥

प्रासङ्गिकं चक्षुरद्वैतपरीक्षाप्रकरणम् [७-१४]

२. इतश्च देहादिव्यतिरिक्त आत्मा;

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ७ ॥

पूर्वपरयोर्विज्ञानयोरेकविषये प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्—'तमेवैतर्हि पश्यामि यमज्ञासिषं स एवायमर्थः' इति, सव्येन चक्षुषा दृष्टस्येतरेणापि चक्षुषा प्रत्यभिज्ञानाद् 'यमद्राक्षं तमेवैतर्हि पश्यामि' इति। इन्द्रियचैतन्ये तु नान्यदृष्टमन्यः प्रत्यभिजानातीति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः। अस्ति त्विदं प्रत्यभिज्ञानम्, तस्मादिन्द्रियव्यतिरिक्तश्चेतनः ॥ ७ ॥

न; एकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ? ॥ ८ ॥

एकमिदं चक्षुर्मध्ये नासास्थिव्यवहितम्, तस्यान्तौ गृह्यमाणौ द्वित्वाभिमानं प्रयोजयतो मध्यव्यवहितस्य दीर्घस्येव ? ॥ ८ ॥

एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम् ॥ ९ ॥

एकस्मिन्नुपहते चोद्धृते वा चक्षुषि द्वितीयमवतिष्ठते चक्षुर्विषयग्रहणलिङ्गम्। तस्मादेकस्य व्यवधानानुपपत्तिः ॥ ९ ॥

वध=उपघात, पीड़ा, हिंसा, प्रमापण (प्राणवियोजन) बन सकता है। नित्य आत्मा का उच्छेद नहीं बनता। यों, 'सात्मक शरीर के प्रदाह में पातक नहीं होता'—यह पूर्वपक्षी का कथन अयुक्तियुक्त ही है ॥ ६ ॥

२. इस कारण भी आत्मा देहादि से व्यतिरिक्त है—

वाम चक्षु द्वारा देखे गये का दक्षिण चक्षु से प्रत्यभिज्ञान होने के कारण ॥ ७ ॥

पूर्व, पर के विज्ञान का एक विषय में प्रतिसन्धिज्ञान 'प्रत्यभिज्ञान' कहलाता है। जैसे—'अब मैं उसी अर्थ को देख रहा हूँ, जिसे मैंने पहले जान लिया था, यह वही विषय है'। बायीं आँख द्वारा देखे गये का दूसरी (दाहिनी) आँख द्वारा 'जिसको मैंने पहले देखा था अब उसीको देख रहा हूँ'—ऐसा प्रत्यभिज्ञान होने से। इन्द्रियचैतन्य मानने पर इन्द्रियों में भिन्नत्व होने से अन्य इन्द्रिय द्वारा दृष्ट का अन्य इन्द्रिय प्रत्यभिज्ञान नहीं कर सकती अतः, उक्त प्रत्यभिज्ञान नहीं बनेगा। जब कि यह प्रत्यभिज्ञान होता है, अतः यह सिद्ध है कि चेतन इन्द्रियों से व्यतिरिक्त है ॥ ७ ॥

उक्त प्रत्यभिज्ञान वास्तविक नहीं; अपितु एक चक्षुरिन्द्रिय में नासास्थि के व्यवधान से द्वित्व का भ्रम हो जाता है ? ॥ ८ ॥

यह एक ही चक्षु, बीच में नासास्थि (नाक की हड्डी) के व्यवधान से उस की दोनों कोटियां (अन्तों) के गृह्यमाण होने के कारण दो की तरह प्रमाता द्वारा प्रमित होता है, जैसे—एक ही लम्बे बाँस के मध्यभाग को लेकर दो किनारों की कल्पना कर लेते हैं ? ॥ ८ ॥

एक का विनाश होने पर भी अन्य विनाश न होने से एकत्वसिद्धि नहीं ॥ ९ ॥

एक चक्षु के नष्ट होने या निकाल लेने पर भी दूसरी रहती है; क्योंकि प्रमाता उस समय भी दूसरी अवशिष्ट चक्षु से विषय को गृहीत करता हुआ देखा जाता है। इसलिये 'नासिकास्थि के व्यवधान से वहाँ द्वित्वभ्रम हो रहा है'—ऐसा मानना अयुक्तियुक्त है ॥ ९ ॥

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ? ॥ १० ॥

एकविनाशे द्वितीयाविनाशादित्यहेतुः। कस्मात्? वृक्षस्य हि कासुचिच्छाखासु छिन्नासूपलभ्यत एव वृक्षः ? ॥ १० ॥

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥ ११ ॥

न कारणद्रव्यस्य विभागे कार्यद्रव्यमवतिष्ठते; नित्यत्वप्रसङ्गात्। बहुष्ववयविषु यस्य कारणानि विभक्तानि तस्य विनाशः, येषां कारणान्यविभक्तानि तानि अवतिष्ठन्ते।

अथवा, दृश्यमानार्थविरोधो दृष्टान्तविरोधः। मृतस्य हि शिरःकपाले द्वाववटौ नासास्थिव्यवहितौ चक्षुषः स्थाने भेदेन गृह्येते। न चैतदेकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते सम्भवति।

अथ वा, एकविनाशस्यानियमाद् द्वाविमावर्थौ, तौ च पृथगावरणोपघातौ अनुमीयेते—विभिन्नाविति।

अवपीडनाच्चैकस्य चक्षुषो रश्मिविषयसन्निकर्षस्य भेदाद् दृश्यभेद इव गृह्यते, तच्चैकत्वे विरुध्येते। अवपीडननिवृत्तौ चाभिन्नप्रतिसन्धानमिति। तस्मादेकस्य व्यवधानानुपपत्तिः ॥ ११ ॥

शङ्का—(आपका उक्त हेतु भी नहीं बनता; क्योंकि)

लोक में अवयव के खण्डित होने पर भी अवयवी से काम चलता हुआ देखा जाता है ? ॥ १० ॥

एक के नाश होने पर भी दूसरे का नाश नहीं होता—अतः आपका हेतु असिद्ध है। जैसे वृक्ष की कुछ शाखाएँ काट दी जाने पर भी वह वृक्ष ही कहलाता है। तथा प्रमाता को पूर्ववत् अर्थसाधन में कोई बाधा न होगी ? ॥ १० ॥

समाधान—

विरुद्ध दृष्टान्त देकर प्रतिषेध नहीं किया जा सकता ॥ ११ ॥

कारणद्रव्य के विभाग (विनाश) हो जाने पर कार्य द्रव्य की सत्ता नहीं रह जाती; अन्यथा वह कार्य द्रव्य नित्य हो जायगा। जहाँ बहुत से अवयवी हैं, उनमें जिसके कारण नष्ट हो गये उसका नाश हो गया। जिनके कारण नष्ट नहीं हुए वे अवस्थित रहते हैं। उक्त दृष्टा में 'पहले जैसा यह वृक्ष'—ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं; अपितु 'कटी शाखा वाला वृक्ष'—ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है।

अथवा, इस सूत्र का व्याख्यान यों है—यहाँ प्रत्यक्ष दृश्यमान अर्थ का विरोध होने से 'दृष्टान्तविरोध' हो गया! मृतक के कङ्कालस्थ शिरःकपाल में नासास्थि से व्यवहित चक्षु के दो छिद्र (गड्ढे) पृथक् पृथक् देखे जाते हैं। चक्षु के एक मानने पर, नासास्थि के व्यवधान से ये दो छिद्र कैसे होते!

अथवा—'एक का विनाश दूसरे की स्थिति या विनाश का नियामक नहीं होता' इस सिद्धान्त से ये चक्षु दो हैं, इन दोनों के अपने पृथक् पृथक् आवरण और विनाश हैं, अतः अनुमान होता है कि ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं।

एक आँख को अंगुली से अवपीड़ित करने (कौंचने) पर उसी एक के रश्मिविषयक सन्निकर्ष का भेद होने से सीमित मात्रा में दृश्यभेद (एक चाँद के दो चाँद दिखायी देना आदि) दिखायी देता है, अवपीडन के निवृत्त होने पर वह भेद भी निवृत्त हो जाता है—यह बात चक्षु के एकत्वसिद्धान्त में कैसे बनेगी। अतः एक में व्यवधानहेतु अनुपपन्न ही है ॥ ११ ॥

३. अनुमीयते चायं देहादिसङ्घातव्यतिरिक्तश्चेतन इति;

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ १२ ॥

कस्यचिदम्लफलस्य गृहीततद्रससाहचर्ये रूपे गन्धे वा केनचिदिन्द्रियेण गृह्यमाणे रसनस्येन्द्रियान्तरस्य विकारो रसानुस्मृतौ रसगर्द्धिप्रवर्तितो दन्तोदकसम्प्लवभूतो गृह्यते। तस्येन्द्रियचैतन्येऽनुपपत्तिः, नान्यदृष्टमन्यः स्मरति ॥ १२ ॥

न; स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ॥ १३ ॥

स्मृतिर्नाम धर्मो निमित्तादुत्पद्यते, तस्याः स्मर्तव्यो विषयः, तत्कृत इन्द्रियान्तरविकारो नात्मकृत इति[१] ? ॥ १३ ॥

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥ १४ ॥

तस्या आत्मगुणत्वे सति सद्भावादप्रतिषेध आत्मनः। यदि स्मृतिरात्मगुणः ? एवं सति स्मृतिरुपपद्यते, नान्यदृष्टमन्यः स्मरतीति। इन्द्रियचैतन्ये तु नानाकर्तृकाणां विषयग्रहणानामप्रतिसन्धानम्, अप्रतिसन्धाने वा विषयव्यवस्थानुपपत्तिः। एकस्तु चेतनोऽनेकार्थदर्शी भिन्ननिमित्तः पूर्वदृष्टमर्थं स्मरतीति एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानात् स्मृतेरात्मगुणत्वे सति सद्भावः, विपर्यये चानुपपत्तिः। स्मृत्याश्रयाः प्राणभृतां सर्वे व्यवहाराः। आत्मलिङ्गम् उदाहरणमात्रमिन्द्रियान्तरविकार इति।

---

३. इसलिये भी इस आत्मा का देहादिसङ्घात से पार्थक्य अनुमित होता है—

इन्द्रियान्तर में विकार होने से ॥ १२ ॥

किसी आम इत्यादि खट्टे फल का पहले से रससाहचर्य गृहीत होने पर, किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा रूप या गन्ध के जान लेने के बाद इसकी अनुस्मृति होने पर दूसरी इन्द्रिय रसना में अम्लरस की तृष्णा से जनित विकार (मुख में पानी भर आना) देखा जाता है। यह बात, इन्द्रियचैतन्य मानने पर कैसे बनेगी; क्योंकि अन्य द्वारा देखे गये का अन्य कैसे स्मरण कर सकता है! ॥ १२ ॥

शङ्का—

स्मृति के स्मर्तव्यविषयक होने से उससे आत्मा का पार्थक्य सिद्ध नहीं होता ॥ १३ ॥

स्मृति नामक धर्म अपने संस्कारकारण से उत्पन्न होता है, स्मर्तव्य उसका विषय है। उक्त इन्द्रियान्तरविकार तत्स्मृतिप्रयुक्त है, आत्मकृत नहीं ? ॥ १३ ॥

समाधान—

उस स्मृति को आत्म-धर्म मानने से आपकी शंका नहीं उठेगी ॥ १४ ॥

उस स्मृति को आत्मा का गुण मानते हैं, क्योंकि आत्मा स्मृति का समवाय सम्बन्ध से आधार है। अतः स्मृति की सत्ता मानने पर आत्मा का प्रतिषेध नहीं बनता; क्योंकि स्मृति को जब आत्मा का धर्म मानोगे तभी वह उसका धर्म बनेगी; अन्यथा अन्य दृष्ट का अन्य स्मरण कैसे करेगा! इन्द्रियचैतन्य मानने पर, नाना इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों का प्रतिसन्धान कैसे बनेगा! प्रतिसन्धान न बनने पर विषय-व्यवस्था कैसे बनेगी! एक चेतन मान लेते हो तो वह अनेकार्थदर्शी है, भिन्ननिमित्त है, पूर्वदृष्ट अर्थ को स्मरण कर लेता है, अतः अनेकार्थदर्शी का एक में दर्शनप्रतिसन्धान बन जाने से, स्मृति के आत्मगुण मान लेने पर, स्मृति होने पर आत्मा को उस रस की अनुभूति होगी, स्मृति न रहने पर नहीं

---

१. 'स्मृतेरात्मा न कारणम्, तस्याः संस्कारकारणकत्वात्; न स्मृतेरात्मा विषयः, स्मृतेः स्मर्तव्यविषयत्वात्; तस्मात् स्मृत्यादिविषयादिन्द्रियान्तरविकारो नात्मकृतः'-इति शङ्काकर्तुराशयः।

अपरिसङ्ख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य[1]।

अपरिसङ्ख्याय च स्मृतिविषयमिदमुच्यते 'न स्मृतेः स्मर्तव्यवविषयत्वात्' इति। येयं स्मृतिरगृह्यमाणेऽर्थे 'अज्ञासिषमहममुमर्थम्' इति, एतस्या ज्ञातृज्ञानविशिष्टः पूर्वज्ञातोऽर्थो विषयो नार्थमात्रम्, 'ज्ञातवानहममुमर्थम्, असावर्थो मया ज्ञातः, अस्मिन्नर्थे मम ज्ञानमभूत्' इति चतुर्विधमेतद्वाक्यं स्मृतिविषज्ञापकं समानार्थम्। सर्वत्र खलु ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयं च गृह्यते।

अथ प्रत्यक्षेऽर्थे या स्मृतिस्तया त्रीणि ज्ञानानि एकस्मिन्नर्थे प्रतिसन्धीयन्ते समानकर्तृकाणि, न नानाकर्तृकाणि, नाकर्तृकाणि, किं तर्हि? एककर्तृकाणि-'अद्राक्षममुमर्थं यमेवैतर्हि पश्यामि'। अद्राक्षमिति दर्शनं दर्शनसंविच्च, न खल्वसंविदिते स्वे दर्शने स्यादेतत् 'अद्राक्षम्' इति, ते खल्वेते द्वे ज्ञाने; 'यमेवैतर्हि पश्यामि' इति तृतीयं ज्ञानम्, एवमेकोऽर्थस्त्रिभिर्ज्ञानैर्युज्यमानो नाकर्तृको न नानाकर्तृकः, किं तर्हि? एककर्तृक इति।

सोऽयं स्मृतिविषयोऽपरिसङ्ख्यायमानो विद्यमानः प्रज्ञातोऽर्थः प्रतिषिध्यते-'नास्त्यात्मा स्मृतेः स्मर्तव्यविषयत्वात्' इति। न चेदं स्मृतिमात्रं स्मर्तव्यमात्रविषयं वा। इदं खलु ज्ञानप्रतिसन्धानवद् स्मृतिप्रतिसन्धानम्; एकस्य सर्वविषयत्वात्। एकोऽयं ज्ञाता सर्वविषयः स्वानि ज्ञानानि प्रतिसन्धत्ते-अमुमर्थं ज्ञास्यामि, अममुर्थं विजानामि, अममुर्थमज्ञासिषम्,

होगी; क्योंकि सभी प्राणियों के व्यवहार स्मृत्याश्रित हैं। इन्द्रियान्तरविकार का यह प्रयोजक स्मृतिरूप आत्मगुण एक उदाहरण दिखा दिया है, अन्य उदाहरणों की उत्प्रेक्षा कर लेना चाहिये।

स्मृतिविषय का परिकलन (कर्ता, कर्म क्रिया का प्रतिसन्धान) न होने से भी वह आत्मा का ही गुण है।

स्मृतिविषयों का परिकलन न करके भी आप कहते हैं—'स्मृति स्मर्तव्यविषया होती है, न कि आत्मविषया'। वर्तमान में अगृह्यमाण अर्थ की 'यह अर्थ मैं जानता था'—यह स्मृति अर्थमात्र नहीं; अपितु ज्ञातृज्ञानविशिष्ट पूर्वज्ञात अर्थ इसका विषय है। 'इस अर्थ को मैं जान चुका', 'यह अर्थ मेरे द्वारा जाना गया', 'इस विषय में मेरा ज्ञान था'—ये चारों वाक्य स्मृतिविषयज्ञापक तुल्य ही हैं, अर्थात् उक्त चारों वाक्यों का ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता—तीनों का समान ज्ञान होता है।

एक बात और सुनिये—प्रत्यक्ष अर्थ की स्मृति में ज्ञानत्रय का एक साथ समानकर्तृक प्रतिसन्धान होता है, वे ज्ञान न तो नानाकर्तृक हैं न अकर्तृक ही; अपितु एककर्तृक हैं। 'इस अर्थ को मैंने पहले भी देखा था जिसको कि अब देख रहा हूँ' यहाँ 'देखा था' यह दर्शन तथा दर्शनसंवित्—दो चीज एकत्र है; क्योंकि 'देखा था' यह प्रत्यभिज्ञान असंविदित स्वदर्शन में नहीं हो सकता। यों, ये दो ज्ञान हुए। तीसरा ज्ञान है 'जिसको कि मैं अब देख रहा हूँ'। इस प्रकार एक ही अर्थ तीन ज्ञानों से युक्त होता हुआ न तो अकर्तृक हो सकता है, न नानाकर्तृक ही होगा।

यों यह अपरिसङ्ख्यायमान स्मृतिविषय, प्रमाणों द्वारा सिद्धार्थ है, विद्यमान है; फिर भी पूर्वपक्षी नास्तिक द्वारा खण्डित किया जा रहा है कि 'स्मृति हेतु से आत्मा की सिद्धि नहीं बनेगी; क्योंकि स्मृति तो स्मर्तव्यविषया है'! हम कहते हैं—न तो यह स्मृतिमात्र है, और न स्मर्तव्यविषयमात्र है; यह तो ज्ञानप्रतिसन्धान की तरह स्मृतिप्रतिसन्धान है; क्योंकि यहाँ एक (आत्मा) ही सभी विषयों का ग्राहक है। यह एक ज्ञाता (आत्मा) सब विषयों वाला है, अतः अपने ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता

१. इदं सूत्रमेवेति केचित्।

अममुर्थं जिज्ञासमानश्चिरमज्ञात्वाऽध्यवस्यति-'अज्ञासिषम्' इति। एवं स्मृतिमपि त्रिकालविशिष्टां सुस्मूर्षाविशिष्टां च प्रतिसन्धत्ते। संस्कारसन्ततिमात्रे तु सत्त्वे उत्पद्योत्पद्य संस्कारास्तिरोभवन्ति। स नास्त्येकोऽपि संस्कारो यस्त्रिकालविशिष्टं ज्ञानं स्मृतिं चानुभवेत्। न चानुभवमन्तरेण ज्ञानस्य स्मृतेश्च प्रतिसन्धानमहं ममेति चोत्पद्यते, देहान्तरवत्। अतोऽनुमीयते-'अस्त्येकः सर्वविषयः प्रतिदेहं स्वज्ञानप्रबन्धं स्मृतिप्रबन्धं च प्रतिसन्धत्ते' इति। यस्य देहान्तरेषु वृत्तेरभावान्न प्रतिसन्धानं भवतीति॥ १४॥

आत्ममनोभेदपरीक्षाप्रकरणम् [१५-१७]

न; आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्?॥ १५॥

न देहादिसङ्घातव्यतिरिक्त आत्मा। कस्मात्? आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्। 'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' (३.१.१) इत्येवमादीनामात्मप्रतिपादकानां हेतूनां मनसि सम्भवः; यतो मनो हि सर्वविषयमिति। तस्मान्न शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घातव्यतिरिक्त आत्मेति?॥ १५॥

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम्॥ १६॥

ज्ञातुः खलु ज्ञानसाधनान्युपपद्यन्ते—चक्षुषा पश्यति, घ्राणेन जिघ्रति, स्पर्शनेन स्पृशति। एवं मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधनं मनःकरणभूतं सर्वविषयं विद्यते येनायं मन्यत इति। एवं

है—'इस अर्थ को जानूँगा', 'इस अर्थ को जानता हूँ', 'इस अर्थ को जानता था'। अमुक अर्थ को जानने की इच्छा करता हुआ बहुत देर तक कोई एकतरफा निर्णय न करके अन्त में अकस्मात् निश्चय करता है कि 'अरे, इसे तो मैं जानता था!' इसी तरह त्रिकालविशिष्ट तथा स्मरणेच्छाविशिष्ट स्मृति का भी यह आत्मा प्रतिसन्धान करता है। स्मृत्यनुभवक्रियाकारक को संस्कारसन्ततिधारामात्र मानेंगे तो संस्कार उत्पन्न हो हो कर विनष्ट हो जाते हैं, तो ऐसा एक भी संस्कार कहाँ मिलेगा जो त्रिकालविशिष्ट ज्ञान तथा स्मृति का अनुभव कर सके! अनुभव के विना ज्ञान तथा स्मृति का देहान्तर में 'मैं—मेरा' ऐसे प्रतिसन्धान की तरह प्रतिसन्धान बन नहीं सकता। अतः अनुमान होता है—अवश्य कोई एक प्रमाता है जो बाह्यान्तरभूत सब विषयों का ग्राहक है, तथा अपने प्रत्येक देह में ज्ञानप्रबन्ध तथा स्मृतिप्रबन्ध का चिन्तन करता है। जिसकी देहान्तर में वृत्ति न मानेंगे तो यह ज्ञान-स्मृतिचिन्तन सिद्ध नहीं होगा॥ १४॥

शङ्का—

आत्मा नहीं है, आत्मा के साधक हेतुओं के मन में सम्भव होने से?॥ १५॥

देहादिसङ्घात से अतिरिक्त आत्मा नहीं है; क्योंकि सिद्धान्ती द्वारा आत्मा के साधन में दिये गये हेतुओं से मन का ही सम्बन्ध है। 'दर्शन-स्पर्शन द्वारा एक अर्थ के ग्रहण से' (३.१.१) आदि हेतुओं से आत्मा के स्थान में मनकी ही सिद्धि हो पायगी; क्योंकि मन भी सर्व विषय का ग्राहक है। अतः हम यह क्यों न मान लें—'शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घात से पृथक् कोई आत्मा नामक पदार्थ नहीं है'?॥ १५॥

उत्तर—

ज्ञाता से ज्ञानसाधन उपपन्न होने के कारण यह संज्ञाभेदमात्र है॥ १६॥

ज्ञाता से ज्ञानसाधनों को प्रामाण्य मिलता है, जैसे—'आँख से देखता है', 'नाक से सूँघता है',

सति ज्ञातर्यात्मसंज्ञा न मृष्यते, मनःसंज्ञाऽभ्यनुज्ञायते; मनसि च मनःसंज्ञा न मृष्यते, मतिसाधनं त्वभ्यनुज्ञायते, तदिदं संज्ञाभेदमात्रम्, नार्थे विवाद इति।

प्रत्याख्याने वा सर्वेन्द्रियविलोपप्रसङ्गः। अथ मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधनं सर्वविषयं प्रत्याख्यायते नास्तीति? एवं रूपादिविषयग्रहणसाधनान्यपि न सन्ति इति सर्वेन्द्रियविलोपः प्रसज्यत इति॥ १६॥

नियमश्च निरनुमानः॥ १७॥

योऽयं नियम इष्यते-'रूपादिग्रहणसाधनान्यस्य सन्ति, मतिसाधनं सर्वविषयं नास्ति' इति, अयं नियमो निरनुमानः। नात्रानुमानमस्ति येन नियमं प्रतिपद्यामह इति।

रूपादिभ्यश्च विषयान्तरं सुखादयः, तदुपलब्धौ करणान्तरसद्भावः। यथा चक्षुषा गन्धो न गृह्यत इति करणान्तरं घ्राणम्, एवं चक्षुर्घ्राणाभ्यां रसो न गृह्यत इति करणान्तरं रसनम्, एवं शेषेष्वपि। तथा चक्षुरादिभिः सुखादयो न गृह्यन्त इति करणान्तरेण भवितव्यम्। तच्च ज्ञानायौगपद्यलिङ्गम्। यच्च सुखाद्युपलब्धौ करणं तच्च ज्ञानायौगपद्यलिङ्गम्, तस्येन्द्रियमिन्द्रियं प्रति सन्निधेरसन्निधेश्च न युगपज्ज्ञानान्युत्पद्यन्ते इति। तत्र यदुक्तम्—'आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्' (३.१.१५) इति तदयुक्तम्॥ १७॥

'त्वक् से स्पर्श करता है'। इसी तरह मन्ता (चक्षुरादिकरणक-दर्शनक्रियाकर्ता) से सर्वविषयक मतिसाधन उपपन्न होते हैं, उनमें मन भी उसकी मति में साधन है, जिससे वह सब विषयों पर मनन करता है, तो मन की स्वीकृति से आत्मा का प्रतिषेध कैसे कर सकोगे! यह कैसी विडम्बना है कि आप अपनी पराजय छिपाने के लिये उस ज्ञाता को 'मन' संज्ञा तो दे देना चाहते हो, पर उसे 'आत्मा' मानने में आपको सङ्कोच लग रहा है! मन को भी 'मन' नाम नहीं देना चाहते, पर उस का मतिसाधनत्व स्वीकार करते चले आ रहे हो! तो यह केवल नाम पर बाधा खड़ी जा रही है, आत्मा की सत्ता तो आप को भी स्वीकार है ही।

और यदि आत्मा के प्रतिषेध पर ही तुले हुए हो तो आपके मत में सब इन्द्रियों के विलोप (अभाव) की स्थिति आ पड़ेगी! क्योंकि सर्वविषयग्राहक मन्ता का मतिसाधन तथा उसके सर्वविषयक प्रत्याख्यान पर आग्रह करोगे तब भी इन्द्रियविलोप की स्थिति का सामना करना अभीष्ट है तो इस तरह रूपादिविषयज्ञान के साधन ही न रह जायेंगे, अतः इन्द्रियविलोप स्पष्ट ही है॥ १६॥

यह नियम अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं होता॥ १७॥

यह जो नियम बनाना चाह रहे हो—'ज्ञाता के रूपादिविषय ज्ञान के साधन तो हैं, परन्तु मतिसाधन (सुखादिज्ञानकरण, मन) सर्वविषय वाला नहीं है', यह नियम नहीं बनेगा; क्योंकि यह निरनुमान है। अर्थात् ऐसा कोई अनुमान नहीं, जिससे इस नियम को प्रमाणित कर सकें।

रूपादि से सुखादि भिन्न विषय हैं, उनके ज्ञान के लिये अलग एक साधन (इन्द्रिय) मानना ही पड़ेगा। जैसे चक्षु से गन्धज्ञान नहीं हो पाता, अतः उस ज्ञान के लिये पृथक् एक घ्राणेन्द्रिय माननी पड़ती है। तथा चक्षु और घ्राण से रसज्ञान नहीं होता, उसके लिये इन्द्रियान्तर रसनेन्द्रिय माननी पड़ती है। शेष इन्द्रियों की आवश्यकता के विषय में भी यही समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार चक्षु आदि से सुखादि ज्ञान गृहीत नहीं हो सकता, अतः उक्त ज्ञान के लिये इन्द्रियान्तर मानना ही पड़ेगा। वह इन्द्रिय ज्ञानायौगपद्य हेतु वाली (मन) है। जो इन्द्रिय सुखाद्युपलब्धि में कारण (साधन) है वही ज्ञानायौगपद्य

आत्मनित्यत्वपरीक्षाप्रकरणम् [१८-२६]

किं पुनरयं देहादिसङ्घातादन्यो नित्यः? उतानित्य इति?

कुतः संशयः? उभयथा दृष्टत्वात् संशयः। विद्यमानमुभयथा भवति—नित्यम्, अनित्यं च। प्रतिपादिते चात्मसद्भावे संशयानिवृत्तेरिति।

आत्मसद्भावहेतुभिरेवास्य प्राग्देहभेदादवस्थानं सिद्धमूर्ध्वमपि देहभेदादवतिष्ठते। कुतः?

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः॥ १८॥

जातः खल्वयं कुमारकोऽस्मिन् जन्मन्यगृहीतेषु हर्षभयशोकहेतुषु हर्षभयशोकान् प्रतिपद्यते लिङ्गानुमेयान्। ते च स्मृत्यनुबन्धादुत्पद्यन्ते, नान्यथा। स्मृत्यनुबन्धश्च पूर्वाभ्यासमन्तरेण न भवति। पूर्वाभ्यासश्च पूर्वजन्मनि सति, नान्यथेति सिध्यत्येतत्—अवतिष्ठतेऽयमूर्ध्वं शरीरभेदादिति॥ १८॥

पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः?॥ १९॥

यथा पद्मादिष्वनित्येषु प्रबोधसम्मीलनं विकारो भवति, एवमनित्यस्यात्मनो हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तिर्विकारः स्यात्?

हेत्वभावादयुक्तम्। अनेन हेतुना पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवदनित्यस्यात्मनो हर्षादिसम्प्रतिपत्तिरिति नात्रोदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः न वैधर्म्यादस्ति, हेत्वभावाद् असम्बद्धार्थकमपार्थकमुच्यते इति।

हेतु वाली है। प्रत्येक इन्द्रिय के साथ इस इन्द्रिय के सामीप्य या असामीप्य से ज्ञान उत्पन्न या अनुत्पन्न होते रहते हैं। अतः आपका यह कहना सर्वथा अनुचित है कि 'आत्मप्रतिपादक हेतुओं का मन से सम्बन्ध होने से मन सिद्ध होता है, आत्मा नहीं'॥ १७॥

क्या यह आत्मा देहादिसङ्घात से अन्य होता हुआ नित्य है; या अनित्य? यह संशय क्यों है? क्योंकि लोक में दोनों ही नय देखे जाने से यहाँ संशय हो गया। लोक में, विद्यमान प्रमाणसिद्ध वस्तु नित्य भी देखी जाती है, अनित्य भी। आत्मा की सत्ता प्रतिपादित कर देने पर भी उसके नित्यत्व के विषय में अभी सन्देह निवृत्त नहीं हुआ?

आत्मसत्ताप्रतिपादक हेतुओं से आत्मा की अवस्थिति देहादि से पूर्व सिद्ध हो चुकी, उन्हीं हेतुओं से वह देहादिनाश के बाद भी अवस्थित है, क्यों?—

पूर्वजन्माभ्यस्त स्मृत्यनुबन्ध से उत्पन्न हर्ष, भय, शोक आदि के सम्प्रतिपन्न होने से॥ १८॥

यह उत्पन्न हुआ बालक इस जन्म में अगृहीत परन्तु लिङ्ग से अनुमेय हर्ष, भय, शोक आदि से ग्रस्त होता है। ये हर्ष भयादि उन्हीं की स्मृति के अनुबन्ध से उत्पन्न हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। यह स्मृत्यनुबन्ध पूर्वाभ्यास से उत्पन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं। पूर्वाभ्यास पूर्व जन्म मानने पर बन सकता है, अन्यथा नहीं। अतः सिद्ध होता है कि शरीरनाश के बाद भी आत्मा विद्यमान है॥ १८॥

शङ्का—

पद्मादि के सङ्कोच विकासादि विकारों की तरह आत्मा के विकार मान लें?॥ १९॥

जैसे लोक में अनित्य पद्मादि में सङ्कोच-विकासरूप विकार देखा जाता है, वैसे ही अनित्य आत्मा में हर्ष, शोक-भय आदि का सम्प्रतिपत्तिरूप विकार मान लें?॥ १९॥

उत्तर—हेतुत्व न होने से ऐसा मानना अयुक्त है। 'इस हेतु से पद्मादि के सङ्कोच विकास को

दृष्टान्ताच्च हर्षादिनिमित्तस्यानिवृत्तिः। या चेयमासेवितेषु विषयेषु हर्षादिसम्प्रतिपत्तिः स्मृत्यनुबन्धकृता प्रत्यात्मं गृह्यते, सेयं पद्मादिसम्मीलनदृष्टान्तेन न निवर्तते। यथा चेयं न निर्वतते तथा जातस्यापीति। क्रियाजाताश्च पर्णसंयोगविभागाः प्रबोधसम्मीलने, क्रियाहेतुश्च क्रियानुमेयः। एवं च सति किं दृष्टान्तेन प्रतिषिध्यते!॥ १९॥

अथ निर्निमित्तः पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकार इति मतम्, एवमात्मनोऽपि हर्षादिसम्प्रतिपत्तिरिति ? तच्च—

न; उष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम्॥ २०॥

उष्णादिषु सत्सु भावादसत्स्वभावात्तन्निमित्ताः पञ्चभूतानुग्रहेण निर्वृत्तानां पद्मादीनां प्रबोधसम्मीलनविकारा इति न निर्निमित्ताः। एवं हर्षादयोऽपि विकारा निमित्ताद्भवितुमर्हन्ति, न निमित्तमन्तरेण। न चान्यत् पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धान्निमित्तमस्तीति। न चोत्पत्तिनिरोधकारणानुमानमात्मनो दृष्टान्तात्, न हर्षादीनां निमित्तमन्तरेणोत्पत्तिः, नोष्णादिवन्निमित्तान्तरोपादानं हर्षादीनाम्। तस्मादयुक्तमेतत्॥ २०॥

४. इतश्च नित्य आत्मा—

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात्॥ २१॥

तरह अनित्य आत्मा को हर्ष शोकादि की सम्प्रतिपत्ति होती है'—इस उदाहरणसाधर्म्य तथा उदाहरणवैधर्म्य मात्र से जन्मान्तरीय अनुभवजन्य संस्कार बालक में नहीं बनता; अतः हेतु न होने से इसके असम्बद्धार्थ हो जाने पर यह उदाहरण निरर्थक है।

दृष्टान्त से भी हर्षादि निमित्त का अनिषेध ही रहेगा। विषयों के आसेवन से हर्ष शोकादि की सम्प्रतिपत्ति पूर्वानुभवज स्मृति-अनुबन्ध से होती हुई प्रत्येक आत्मा को गृहीत होती है, यह पद्मादि के सङ्कोच विकासवाले दृष्टान्त से प्रतिषिद्ध नहीं की जा सकती। अथ च, जैसे पद्मादि की सङ्कोच-विकास क्रिया निवृत्त नहीं होती, वैसे ही उत्पन्न बालक ही हर्ष-शोकादि सम्प्रतिपत्तियाँ निवृत्त नहीं होती। वहाँ सङ्कोचविकास क्रियोत्पन्न पत्रादिसंयोगविभाग से अतिरिक्त नहीं है। क्रियाहेतु का क्रिया से अनुमान किया जाता है। ऐसा मानने के बाद, हम नहीं समझ पाये कि आप पद्मादि दृष्टान्त से क्या प्रतिषिद्ध कर रहे हैं!

शङ्का—'पद्मादिक में सङ्कोच-विकास अहेतुक है'—यह मत है, इसी प्रकार आत्मा में भी हर्ष शोकादि की सम्प्रतिपत्ति बन जायगी ? वह तो

नहीं बनेगी; पञ्चात्मक विकारों का उष्ण, शीत, वर्षा काल हेतु होने से॥ २०॥

उष्णादि हेतु होने पर वे होते हैं, न होने पर नहीं होते, अतः वे पञ्चभूतानुगृहीत व्यापार से निष्पन्न पद्मादि के सङ्कोच-विकास अहेतुक नहीं है। इसी तरह हर्षादि विकार भी निमित्त से ही बन सकते हैं, निमित्त के विना नहीं। वह निमित्त पूर्वाभ्यस्त स्मृत्यनुबन्ध के अतिरिक्त क्या हो सकता है! दृष्टान्त से आत्मा के उत्पत्ति-विनाशकारण का अनुमान नहीं कर सकते। हर्षादि की निमित्त के विना उत्पत्ति नहीं बन सकती। उष्णादि की तरह निमित्तान्तर से भी हर्षादि की उत्पत्ति हो नहीं सकती। अतः आपकी हर्षादिकों के निर्निमित्तवाली बात अयुक्त ही है॥ २०॥

४. इस कारण भी आत्मा नित्य है—

जन्म होते ही आहाराभ्यासजन्य स्तन्याभिलाष से॥ २१॥

जातमात्रस्य वत्सस्य प्रवृत्तिलिङ्गः स्तन्याभिलाषो गृह्यते, स च नान्तरेणाहाराभ्यासम्। कया युक्त्या ? दृश्यते हि शरीरिणां क्षुधा पीड्यमानानामाहाराभ्यासकृतात् स्मरणानुबन्धादाहाराभिलाषः। न च पूर्वशरीराभ्यासमन्तरेणासौ जातमात्रस्योपपद्यते। तेनानुमीयते—भूतपूर्वं शरीरम्, यत्रानेनाहारोऽभ्यस्त इति। स खल्वयमात्मा पूर्वशरीरात् प्रेत्य शरीरान्तरमापन्नः क्षुत्पीडितः पूर्वाभ्यस्तमाहारमनुस्मरन् स्तन्यमभिलषति। तस्मान्न देहभेदादात्मा भिद्यते, भवत्येवोर्ध्वं देहभेदादिति॥ २१॥

अयसोऽस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ?॥ २२॥

यथा खल्वयोऽभ्यासमन्तरेणायस्कान्तमुपसर्पति, एवमाहाराभ्यासमन्तरेण बालः स्तन्यमभिलषति ?॥ २२॥

किमिदमयसोऽयस्कान्ताभिसर्पणं निर्निमित्तम्, अथ निमित्तादिति ? निर्निमित्तं तावत्—

न; अन्यत्र प्रवृत्त्यभावात्॥ २३॥

यदि निर्निमित्तम् ? लोष्टादयोऽप्ययस्कान्तमुपसर्पेयुः! न जातु नियमे कारणमस्तीति। अथ निमित्तात् ? तत्केनोपलभ्यते इति! क्रियालिङ्गः क्रियाहेतुः, क्रियानियमलिङ्गश्च क्रियाहेतुनियमः, तेनान्यत्र प्रवृत्त्यभावः। बालस्यापि नियतमुपसर्पणं क्रियोपलभ्यते। न च स्तन्याभिलाषलिङ्गमन्यदाहाराभ्यासकृतात् स्मरणानुबन्धात्। निमित्तं दृष्टान्तेनोपपाद्यते, न चासति

उत्पन्न होते ही शिशु का प्रवृत्तिहेतुक स्तन्याभिलाष (स्तन्यपानेच्छा) देखा जाता है, यह आहाराभ्यास के विना नहीं बन सकता। किस युक्ति से ? लोक में देखते हैं कि क्षुधा से पीड़ित प्राणियों का, आहाराभ्यासजन्य स्मरणानुबन्ध से आहाराभिलाष देखा जाता है। पूर्वाभ्यास के विना उत्पन्न होते ही बालक को यह कैसे बन सकता है! पूर्व शरीर से च्युत होकर शरीरान्तर से अवच्छिन्न यह आत्मा क्षुधा से पीड़ित हो, पूर्वजन्माभ्यस्त आहार का अनुस्मरण करता हुआ स्तन्य की इच्छा करता है। अतः सिद्ध होता है कि देहनाश से आत्मा का नाश नहीं हो जाता, अपितु वही आत्मा दूसरे देहों में भी अवच्छिन्न है॥ २१॥

शङ्का—

अयस्कान्त मणि के पास लोह के अभिगमन की तरह उस शिशु का स्तन्य की ओर उपसर्पण मान लें ?॥ २२॥

जैसे अभ्यास के विना ही लोह अयस्कान्तमणि की ओर सरकता है, वैसे ही बालक भी स्तन्य की ओर झुकता है, उसकी इच्छा रखता है। (पूर्वजन्माभ्यास कारण मानोगे तो जात्यन्ध या बधिरों को पूर्वाभ्यस्त रूपशब्दादिक का इस जन्म में भी प्रत्यक्ष होने लगेगा ?)॥ २२॥

उत्तर—क्या यह लोह का अयस्कान्तमणि की ओर उपसर्पण अनिमित्तक है या सनिमित्तिक ? यदि अनिमित्तक कहोगे तो—

ऐसा नहीं कह सकते; अन्यत्र प्रवृत्ति न देखी जाने से॥ २३॥

यदि अनिमित्तक मानोगे तो ईंट पत्थर आदि भी अयस्कान्तमणि की ओर सरकने लगेंगे, क्योंकि नियम में कोई कारण तो है नहीं। यदि निमित्त मानोगे तो वह किससे उपलब्ध होता है! क्रियालिङ्गक साध्य क्रियाजनक होता है, तथा क्रियानियमलिङ्ग क्रियाजनकनियम होता है, इसलिये अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं होती। बालक की भी नियत उपसर्पणक्रिया उपलब्ध होती है, स्तन्याभिलाषहेतुकनिमित्त दूसरे आहार से जन्य अभ्यास के स्मरणानुबन्ध के विना नहीं हो सकता।

निमित्ते कस्यचिदुत्पत्तिः। न च दृष्टान्ते दृष्टमभिलाषहेतुं बाधते। तस्मादयसोऽयस्कान्ताभिगमनमदृष्टान्त इति।

अयसः खल्वपि नान्यत्र प्रवृत्तिर्भवति, न जात्वयो लोष्टमुपसर्पति, किंकृतोऽस्य नियम इति? यदि कारणनियमात्? स च क्रियानियमलिङ्गः। एवं बालस्यापि नियतविषयोऽभिलाषः कारणनियमाद्भवितुमर्हति। तच्च कारणमभ्यस्तस्मरणम्, अन्यद्वेति दृष्टेन विशिष्यते। दृष्टो हि शरीरिणामभ्यस्तस्मरणादाहाराभिलाष इति॥ २३॥

५. इतश्च नित्य आत्मा। कस्मात्?

वीतरागजन्मादर्शनात्॥ २४॥

'सरागो जायते' इत्यर्थादापद्यते। अयं जायमानो रागानुबद्धो जायते, रागस्य पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनं योनिः। पूर्वानुभवश्च विषयाणामन्यस्मिन् जन्मनि शरीरमन्तरेण नोपपद्यते। सोऽयमात्मा पूर्वशरीरानुभूतान् विषयान् अनुस्मरन् तेषु तेषु रज्यते, तथा चायं द्वयोर्जन्मनोः प्रतिसन्धिः। एवं पूर्वशरीरस्य पूर्वतरेण, पूर्वतरस्य पूर्वतमेनेत्यादिनाऽनादिश्चेतनस्य शरीरयोगः, अनादिश्च रागानुबन्ध इति सिद्धं नित्यत्वमिति॥ २४॥

कथं पुनर्ज्ञायते-पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनजनितो जातस्य रागः, न पुनः—

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत् तदुत्पत्तिः?॥ २५॥

निमित्त दृष्टान्त से उपपन्न होता है, निमित्त के विना किसी की उपपत्ति नहीं होती। दृष्टान्त में दृष्ट तत्त्व अभिलाषनिमित्त का बाध नहीं करता, इसलिये लोह का अयस्कान्त मणि के पास जानेवाला दृष्टान्त युक्त नहीं।

लोह की भी अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं होती, लोह कभी पत्थर की तरह नहीं सरकता—यह नियम किस हेतु से बना? यदि कारणनियम से मानोगे तो वह क्रियानियमलिङ्ग बन गया। इसी तरह शिशु का भी नियतविषयक अभिलाष कारणनियम से बन सकता है। वह कारण अभ्यस्त स्मरण है, या कोई अन्य—यह निर्णय अस्मदादि दृष्ट से किया जा सकता है। प्राणियों का अभ्यस्त स्मरण से आहाराभिलाष हम लोग देखते ही हैं। अतः उक्त नियम में कोई बाधा नहीं है॥ २३॥

५. इस कारण भी आत्मा नित्य है; क्योंकि

वीतराग का जन्म नहीं देखा जाता॥ २४॥

इससे 'सराग प्राणी उत्पन्न होता है'—यह अर्थात् आपन्न हुआ। यह प्राणी उत्पन्न होता हुआ रागानुबद्ध होता है। राग का कारण है पूर्वानुभूत विषयों का पुनः पुनः चिन्तन। विषयों का पूर्वानुभव अन्य जन्म में शरीर धारण किये विना नहीं बन सकता। यह आत्मा पूर्व शरीर में अनुभूत विषयों का अनुस्मरण करता हुआ उन उन विषयों में राग को प्राप्त होता है। यही राग दो जन्मों की प्रतिसन्धि कहलाता है। इस रीति से पूर्वशरीर का उससे पहलेवाले शरीर के साथ, तथा उससे पहलेवाले का उससे भी पहलेवाले शरीर के साथ—यों यह चेतन शरीर का सम्बन्ध अनादि चला आ रहा है, इसी के साथ साथ राग भी अनादि प्रवाह से चला आ रहा है। अतः इस राग के उत्पत्तिविनाश हेतु से भी आत्मा का नित्यत्व सिद्ध होता है॥ २४॥

शङ्का—यह कैसे ज्ञात हो कि उत्पन्न शिशु का यह राग पूर्वानुभूत विषयानुचिन्तन से ही जनित है, क्यों नहीं—

यथोत्पत्तिधर्मकस्य द्रव्यस्य गुणाः कारणत उत्पद्यन्ते, तथोत्पत्तिधर्मकस्यात्मनो रागः कुतश्चिदुत्पद्यते?॥ २५॥

अत्रायमुदितानुवादो निदर्शनार्थः।

न; सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम्॥ २६॥

न खलु सगुणद्रव्योत्पत्तिवदुत्पत्तिरात्मनो रागस्य च। कस्मात्? सङ्कल्पनिमित्तत्वाद् रागादीनाम्। अयं खलु प्राणिनां विषयानासेवमानानां सङ्कल्पजनितो रागो गृह्यते, सङ्कल्पश्च पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनयोनिः। तेनानुमीयते-जातस्यापि पूर्वानुभूतार्थचिन्तनकृतो राग इति। आत्मोत्पादाधिकरणानां तु रागोत्पत्तिर्भवन्ती सङ्कल्पादन्यस्मिन् रागकारणे सति वाच्या, कार्यद्रव्यगुणवत्। न चात्मोत्पादः सिद्धः, नापि सङ्कल्पादन्यद्रागकारणमस्ति। तस्मादयुक्तम्—'सगुणद्रव्योत्पत्तिवत् तस्योत्पत्तिः' इति।

अथापि सङ्कल्पादन्यद्रागकारणं धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपादीयते, तथापि पूर्वशरीरयोगोऽप्रत्याख्येयः। तत्र हि तस्य निर्वृत्तिः, नास्मिन् जन्मनि, तन्मयत्वाद्राग इति। विषयाभ्यासः खल्वयं भावनाहेतुः तन्मयत्वमुच्यते इति। जातिविशेषाच्च रागविशेष इति। कर्म खल्विदं जातिविशेषनिर्वर्तकं तादात्म्यात्ताच्छब्द्यं विज्ञायते। तस्मादनुपपन्नं सङ्कल्पादन्यद्रागकारणमिति॥ २६॥

सगुण द्रव्य की उत्पत्ति की तरह उस राग की उत्पत्ति मान लें?॥ २५॥

जैसे उत्पत्तिधर्मा घटादि द्रव्य के गुण कारण से उत्पन्न होते हैं, उसी तरह उत्पत्तिधर्मक आत्मा का राग भी किसी कारण से उत्पन्न होता होगा?॥ २५॥

उत्तर—यहाँ यह कथित का अनुकथन नये दृष्टान्त मात्र के लिये है, पहले अयस्कान्त के दृष्टान्त से यह बात कही थी, अब घटादि के दृष्टान्त से कह रहे हैं।

रागादिक के सङ्कल्पनिमित्तक होने से यह नहीं कह सकते॥ २६॥

सगुण द्रव्य की उत्पत्ति की तरह आत्मा तथा उसके राग की उत्पत्ति नहीं मान सकते; क्योंकि रागादि सङ्कल्पनिमित्तक है। यह सङ्कल्पजनित राग विषयों का आसेवन करने वाले प्राणियों में ही देखा जाता है। तथा उक्त सङ्कल्प पूर्वानुभूत विषयानुचिन्तन से होता है। अतः अनुमान होता है—'सद्योजात शिशु को भी पूर्वानुभूतार्थचिन्तनजनित राग उत्पन्न होता है'। आत्मोत्पत्तिपक्ष में तो सङ्कल्प से अन्य रागकारण सिद्ध होने पर, कार्यद्रव्य गुण की तरह, रागोत्पत्ति होती हुई कही जा सकती है; परन्तु आत्मोत्पत्ति सिद्ध नहीं होती, न सङ्कल्प से अन्य रागकारण ही सिद्ध है। इसलिये यह कहना कि 'सगुण द्रव्य की तरह आत्मा के राग की उत्पत्ति होती है'—अयुक्त ही है।

यदि उक्त सङ्कल्प से अन्य रागकारण अदृष्ट धर्माधर्म मानें तो भी शरीर से शरीरान्तर के सम्बन्ध का प्रत्याख्यान नहीं होगा। इस पक्ष में, उस जन्म में उसकी निर्वृत्ति बन सकती है, इस जन्म में नहीं; क्योंकि विषयाभ्यासमूलक राग तन्मय होता है। यह भावनाहेतुक विषयाभ्यास ही 'तन्मय' कहलाता है। करभादि-जन्मविशेष से कण्टकभक्षणादि रागविशेष की उपपत्ति बनती है। कर्म ही उस उस जातिविशेष का निर्वर्तक है। आत्मा में उस शरीर का तादात्म्य होने से उपचारात् उन उन शरीरवाचक पदों का उस (आत्मा) में व्यवहार होता है। कर्म जातिविशेष का निर्वर्तक माना जाता है। अतः यह कहना भी अयुक्तियुक्त ही है कि 'सङ्कल्प से अतिरिक्त कोई अन्य राग का कारण बन सकता है'॥ २६॥

शरीरपरीक्षाप्रकरणम् [२७-३१]

अनादिश्चेतनस्य शरीरयोग इत्युक्तम्। स्वकृतकर्मनिमित्तं चास्य शरीरं सुखदुःखाधिष्ठानम्, तत् परीक्ष्यते-किं घ्राणादिवदेकप्रकृतिकम्? उत नानाप्रकृतीति? कुतः संशयः? विप्रतिपत्तेः संशयः। पृथिव्यादीनि भूतानि सङ्ख्याविकल्पेन शरीरप्रकृतिरिति प्रतिजानत इति।

किं तत्र तत्त्वम्?

पार्थिवम्; गुणान्तरोपलब्धेः ॥ २७॥

तत्र मानुषं शरीरं पार्थिवम्। कस्मात्? गुणान्तरोपलब्धेः। गन्धवती पृथिवी, गन्धवच्च शरीरम्। अबादीनामगन्धत्वात् तत्प्रकृत्यगन्धं स्यात्। न त्विदमबादिभिरसम्पृक्तया पृथिव्याऽऽरब्धं चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयभावेन कल्पते इत्यतः पञ्चानां भूतानां संयोगे सति शरीरं भवति। भूतसंयोगो हि मिथः पञ्चानां न निषिद्ध इति। आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि, तेष्वपि भूतसंयोगः पुरुषार्थतन्त्र इति। स्थाल्यादिद्रव्यनिष्पत्तावपि निःसंशया नाबादिसंयोगमन्तरेण निष्पत्तिरिति ॥ २७॥

पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः?॥ २८॥

निःश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम्?॥ २९॥

गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम्?॥ ३०॥

चेतन तथा शरीर का सम्बन्ध अनादि है—यह हम अभी पीछे कह आये हैं! इस चेतन का यह शरीर स्वकर्मनिमित्तक तथा इसके सुख दुःख का अधिष्ठान (=अवच्छेदक, भोगाश्रय) है! उसके विषय में अब विचार करना है कि वह घ्राणादि की तरह एकभूतसमवायिकारणक है, या नानाभूतों से बना है? यह संशय क्यों हुआ? विप्रतिपत्ति के कारण। ये विप्रतिपन्न वादी पृथिव्यादि पञ्चभूतों को सङ्ख्याविकल्प से शरीर का समवायिकारण स्थापित करते हैं।

इन विभिन्न वादियों के मतों में कौन सा मत समीचीन है?

पृथ्वी गुण की उपलब्धि होने से यह मानव शरीर पार्थिव हैं॥ २७॥

यह मनुष्य-शरीर पार्थिव है; क्योंकि उसमें पार्थिव गुण विशेष की उपलब्धि होती है। पृथिवी गन्धवती है, शरीर भी गन्धवान् है। यदि यह शरीर जलादिप्रकृतिक होता तो यह भी जलादि की तरह निर्गन्ध होता; परन्तु यह जलादि से सम्पृक्त हुए विना एक पृथ्वी से आरब्ध (निर्मित) होता तो इसमें चेष्टा, इन्द्रिय, अर्थाश्रयत्व इत्यादि न बन पाते; क्योंकि ये गुण पृथ्वी में नहीं है, अतः पाँचों भूतों के संयोग से ही इस शरीर की निष्पत्ति हुई है। इन पाँचों भूतों का परस्पर मिलना किसी भी वादी को अनिष्ट भी नहीं है। यद्यपि दूसरे लोकों में शरीर केवल जल-वायु-तेजःप्रकृतिक है, पर उनमें भी इन भूतों का संयोग पुरुषार्थसाध्य है। स्थाल्यादि पदार्थों का निष्पादन भी निस्सन्देह जलादिसंयोग के विना नहीं हो पाता॥ २७॥

शङ्का—

इस शरीर को पार्थिव, आप्य तथा तैजस मान लें, उन भूतों के गुणों की उपलब्धि होने से?॥ २८॥

शरीर में निःश्वास, उच्छ्वास की उपलब्धि से इसे चातुर्भौतिक मान लें?॥ २९॥

अथवा—इसमें गन्ध, आर्द्रता, अन्नपाक, भुक्तान्नपात, रससञ्चरण तथा दूसरे भूतों को इतस्ततः सञ्चरण के लिये अवकाशदान से इसे पाञ्चभौतिक मान लें?॥ ३०॥

त इमे सन्दिग्धा हेतव इत्युपेक्षितवान् सूत्रकारः। कथं सन्दिग्धाः? सति च प्रकृतिभावे भूतानां धर्मोपलब्धिः, असति च संयोगाप्रतिषेधात् सन्निहितानामिति। यथा स्थाल्यामुदकतेजोवाय्वाकाशानामिति। तदिदमनेकभूतप्रकृति शरीरमगन्धमरसमरूपमस्पर्शं च प्रकृत्यनुविधानात् स्यात्। न त्विदमित्थम्भूतम्, तस्मात् 'पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः'॥ २८-३०॥

श्रुतिप्रामाण्याच्च॥ ३१॥

'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतात्' इत्यत्र मन्त्रे 'पृथिवीं ते शरीरम्' इति श्रूयते, तदिदं प्रकृतौ विकारस्य प्रलयाभिधानमिति। 'सूर्यं ते चक्षुः स्पृणोमि' इत्यत्र मन्त्रान्तरे 'पृथिवीं ते शरीरं स्पृणोमि' इति श्रूयते, सेयं कारणाद्विकारस्य स्पृत्तिरभिधीयत इति। स्थाल्यादिषु च तुल्यजातीयानामेककार्यारम्भदर्शनाद् भिन्नजातीयानामेककार्यारम्भानुपपत्तिः॥ ३१॥

इन्द्रियपरीक्षाप्रकरणम् [३२-५१]

अथेदानीमिन्द्रियाणि प्रमेयक्रमेण विचार्यन्ते—किमाव्यक्तिकानि? आहोस्विद् भौतिकानीति?

कुतः संशयः?

कृष्णसारे सत्युपलम्भाद्व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः॥ ३२॥

इन तीनों सूत्रों में कथित हेतु सन्दिग्ध हैं, अतः सूत्रकार ने इनकी उपेक्षा की। सन्दिग्ध कैसे है? तत्तद्गुणवान् द्रव्य के प्रकृतिभाव में भी भूतों के धर्मों की उपलब्धि बन सकती है; अथवा-परस्पर संयुक्त भूतों का संयोग के अप्रतिषेध से भी गुणों की उपलब्धि हो सकती है। जैसे—एक ही स्थाली पार्थिव होती हुई भी वह्निसंयुक्त हो तो अन्न को पका देती है, उदकसंयुक्त हो तो मध्यपाती पदार्थों को आर्द्र कर देती है, वायुसंयुक्त हो तो मध्यपाती पदार्थों का सञ्चरण करती है, आकाशसंयुक्त हो तो अन्य भूतों के कर्मों को इतस्ततः सञ्चरण के लिये अवकाश देती है। यह मानव शरीर यदि अनेकभूतप्रकृतिक होता तो तत्तद्भूतों की प्रकृति के अनुसार दूसरे के गुण दूसरे में नहीं आ सकते, अतः शरीर निर्गन्ध, नीरस, नीरूप, निःस्पर्श होता; परन्तु यह ऐसा नहीं है, अतः सिद्ध होता है कि—'इसमें गुणविशेष की विशेषोपलब्धि होने से यह पार्थिव है'॥ २८-३०॥

श्रुतिप्रामाण्य से भी (मानव शरीर पार्थिव है)॥ ३१॥

'तुम्हारे (प्रेतात्मा के) चक्षु सूर्य (तेजस्) में विलीन हो जायें' इस मन्त्र में 'तुम्हारा शरीर पृथ्वी में विलीन हो जाय'—इस प्रकार पृथ्वी प्रकृति में उसके विकार का विलय बतलाया है। 'तेरे लिये सूर्य को चक्षु रूप से सृजन करता हूँ' इस दूसरे मन्त्र में—'पृथ्वी को तेरे शरीर रूप में सृजन करता हूँ' यह कहते सुना जाता है! इसमें कारण से पृथ्वी के विकार की सृष्टि कही गयी है। स्थाल्यादि द्रव्यों में तुल्य-जातीयों का समान कार्य होता हुआ देखा जाता है; अतः भिन्नजातीयों का समान कार्यारम्भ शरीर में अनुपपन्न है॥ ३१॥

प्रमेयक्रम से, अब इन्द्रियों पर विचार किया जा रहा है—क्या ये इन्द्रियाँ साङ्ख्यमतानुसार अव्यक्त की विकार हैं? या (नैयायिकतानुसार) भूतविकार हैं?

यह संशय क्यों उठा?

कनीनिका के होने पर रूपोपलब्धि होने से, तथा उस कनीनिका के समीपस्थ विषय की उपलब्धि होने से॥ ३२॥

कृष्णसारं भौतिकम्, तस्मिन्ननुपहते रूपोपलब्धिः, उपहते चानुपलब्धिरिति। व्यतिरिच्य कृष्णसारमवस्थितस्य विषयस्य उपलम्भः, न कृष्णसारप्राप्तस्य। न चाप्राप्यकारित्वमिन्द्रियाणां तदिदमभौतिकत्वे विभुत्वात् सम्भवति। एवमुभयधर्मोपलब्धेः संशयः॥ ३२॥

साङ्ख्यमतखण्डनम्

अभौतिकानीत्याह[1]। कस्मात्?

महदणुग्रहणात्॥ ३३॥

'महत्' इति महत्तरं महत्तमं चोपलभ्यते, यथा—न्यग्रोधपर्वतादि। 'अणु' इति अणुतरमणुतमं च गृह्यते, यथा—न्यग्रोधधानादि। तदुभयमुपलभ्यमानं चक्षुषो भौतिकत्वं बाधते। भौतिकं हि यावत्तावदेव व्याप्नोति। अभौतिकं तु विभुत्वात् सर्वव्यापकमिति॥ ३३॥

न महदणुग्रहणमात्रादभौतिकत्वं विभुत्वं चेन्द्रियाणां शक्यं प्रतिपत्तुम्। इदं खलु—

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम्॥ ३४॥

तयोर्महदण्वोर्ग्रहणं चक्षूरश्मेरर्थस्य च सन्निकर्षविशेषाद्भवति, यथा-प्रदीपरश्मेरर्थस्य चेति। रश्म्यर्थसन्निकर्षश्चावरणलिङ्गः। चाक्षुषो हि रश्मिः कुड्यादिभिरावृतमर्थं न प्रकाशयति, यथा-प्रदीपरश्मिरिति॥ ३४॥

कृष्णसार (=कनीनिका) भौतिक (तैजस) है; क्योंकि उसके रहने पर रूपोपलब्धि होती है, न रहने पर नहीं हो पाती। कनीनिका से कुछ दूर पड़े पदार्थ की उपलब्धि हो पाती है, परन्तु उसको कनीनिका से सर्वथा सम्बद्ध कर देने पर रूपोपलब्धि नहीं होती। और, इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी नहीं हैं, अतः उन्हें अभौतिक मानने पर भी विभुत्व धर्म से उनमें यह उपलब्धि बन सकती है। यों इन्द्रियों के विषय में दोनों तरह की कोटि मिलने से संशय होता है॥ ३२॥

'इन्द्रियाँ अभौतिक हैं'—ऐसा साङ्ख्यमत है; कैसे?—

बड़े से बड़े तथा न्यून से न्यून परिमाण का ग्रहण होने से॥ ३३॥

'महत्' से महत्तर, महत्तम का भी ग्रहण होता है, जैसे—विशाल वट वृक्ष या पर्वत आदि। 'अणु' से भी अणुतर, अणुतम का ग्रहण होता है, जैसे—वटबीज आदि। इन दोनों—'महद्' तथा 'अणु' के कनीनिका द्वारा गृहीत होने से चक्षु का भौतिकत्व बाधित होता है, क्योंकि भौतिक विकार एक सीमित परिमाण को ही व्याप्त कर सकता है। हाँ, अभौतिक अपेक्षानुसार व्यापक परिमाण को भी व्याप्त कर सकता है; क्योंकि वह विभु है॥ ३३॥

[अब **नैयायिक** साङ्ख्यमत का खण्डन करता है—] केवल महद् या अणु परिमाणग्रहण से इन्द्रियों का अभौतिकत्व या विभुत्व सिद्ध नहीं होता; यह—

महद्-अणु का ग्रहण रश्मि तथा अर्थ के सन्निकर्षविशेष से होता है॥ ३४॥

उन दोनों—महत् तथा अणु का ग्रहण चक्षूरश्मि तथा अर्थ के सन्निकर्षविशेष से होता है, जैसे—प्रदीपप्रभा तथा अर्थ के सन्निकर्ष से महदणु का ग्रहण होता है। यह रश्मि-अर्थ का सन्निकर्ष आवरण से अनुमित है। चाक्षुष रश्मि भित्ति आदि का आवरण रहते अर्थ को प्रकाशित नहीं कर पातीं, जैसे प्रदीपप्रभा भित्ति-आवरण के रहते द्रव्य को प्रकाशित नहीं करती॥ ३४॥

१. साङ्ख्य इति शेषः। इदानीं सूत्रकारः साङ्ख्यमतमुत्थाप्य 'अक्षिकनीनिकैवेन्द्रियम्' इति बौद्धमतं दूषयति।

आवरणानुमेयत्वे सतीदमाह—

तदनुपलब्धेरहेतुः॥ ३५॥

रूपस्पर्शवद्धि तेजः, महत्त्वादनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपवत्त्वाच्चोपलब्धिरिति प्रदीपवत् प्रत्यक्षत उपलभ्येत चाक्षुषो रश्मिर्यदि स्यादिति?॥ ३५॥

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः॥ ३६॥

सन्निकर्षप्रतिषेधार्थेनावरणेन लिङ्गेनानुमीयमानस्य रश्मेर्या प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिर्नासावभावं प्रतिपादयति, यथा—चन्द्रमसः परभागस्य, पृथिव्याश्चाधोभागस्य॥ ३६॥

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः॥ ३७॥

भिन्नः खल्वयं द्रव्यधर्मो गुणधर्मश्च, महदनेकद्रव्यच्च [1]विपक्तावयवमाप्यं द्रव्यं प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते, स्पर्शस्तु शीतो गृह्यते, तस्य द्रव्यस्यानुबन्धात् हेमन्तशिशिरौ कल्प्येते, तथाविधमेव च तैजसं द्रव्यमनुद्भूतरूपं सह रूपेण नोपलभ्यते, स्पर्शस्त्वस्योष्ण उपलभ्यते; तस्य द्रव्यस्यानुबन्धाद् ग्रीष्मवसन्तौ कल्प्येते॥ ३७॥

यत्र त्वेषा भवति—

अनेकद्रव्यसमवायात्[2] रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः[3]॥ ३८॥

शङ्का—आवरण से अनुमेय मानने पर साङ्ख्यवादी कहता है—

उसकी उपलब्धि न होने से वह अहेतु है?॥ ३५॥

तेज रूपस्पर्शवाला है। महत्त्व, अनेकद्रव्यवत्त्व तथा रूपवत्त्व होने से उसकी उपलब्धि, प्रदीपप्रभावाले दृष्टान्त की तरह, प्रत्यक्ष से हो सकती थी, यदि चाक्षुष रश्मि वहाँ होती! तात्पर्य यह है कि अनुपलब्धिलक्षणप्राप्त भी यदि उपलभ्यमान नहीं है तो आवरणादि का अनुमेय बनाना उचित नहीं; अन्यथा नरविषाण आदि का भी अनुमान होने लगेगा?॥ ३५॥

उत्तर—

अनुमीयमान की प्रत्यक्षतः अनुपलब्धि उसके अभाव का कारण नहीं बना करती॥ ३६॥

सन्निकर्षप्रतिषेधार्थक आवरण से अनुमीयमान रश्मि की प्रत्यक्षतः अनुपलब्धि रश्मि के अभाव का प्रतिपादन नहीं करती, जैसे—चन्द्रमा का परभाग या पृथ्वी का अधोभाग प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं होता तो उनके विषय में क्या हम यह मान बैठते हैं कि उनका अभाव है!॥ ३६॥

तथा द्रव्यगुणभेद से उपलब्धि में नियम होता है॥ ३७॥

ये द्रव्य तथा गुण के धर्म भिन्न भिन्न हैं। कोई प्रत्यक्षतः उपलब्ध हो जाता है, कोई नहीं होता। जैसे जलीय द्रव्य (वायुनीत जलीय त्र्यणुकादि) महान्, अनेकद्रव्यवान् तथा विभक्तावयव होते हुए भी प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं होता, परन्तु उसका शीतस्पर्श प्रत्यक्षतः गृहीत है; उसी से द्रव्य अनुमेय है। अतः उस द्रव्य के अनुबन्ध से हेमन्त शिशिर ऋतु की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार, तैजस द्रव्य, जिसका रूप अनुद्भूत है, रूप से युक्त होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं होता; परन्तु उसका उष्ण स्पर्श प्रत्यक्षतः अनुभूत होता है; उसीसे द्रव्य अनुमेय होता है। उस द्रव्य के अनुबन्ध से ग्रीष्म वसन्त ऋतु की कल्पना की जाती है॥ ३७॥

जहाँ यह रूपोलब्धि होती है, वहाँ—

१. विभक्तावयवम्—इति पाठः। २. अनेकद्रव्येण समवायादिति वार्तिकसम्मतः पाठः। ३. इदं सूत्रं वैशेषिकसूत्रेष्वपि (४. अ० १. आ० ६. सू०) दृश्यते।

यत्र रूपं च द्रव्यं च तदाश्रयः प्रत्यक्षत उपलभ्यते, रूपविशेषस्तु यद्भावात् क्वचिद् रूपोपलब्धिः, यदभावाच्च द्रव्यस्य क्वचिदनुपलब्धिः-स रूपधर्मोऽयमुद्भवसमाख्यात इति। अनुद्भूतरूपश्चायं नायनो रश्मिः, तस्मात् प्रत्यक्षतो नोपलभ्यत इति। दृष्टश्च तेजसो धर्मभेदः— उद्भूतरूपस्पर्शं प्रत्यक्षं तेजः, यथा-आदित्यरश्मयः; उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं च प्रत्यक्षं तेजः, यथा-प्रदीपरश्मयः; उद्भूतस्पर्शमनुद्भूतरूपमप्रत्यक्षम्, यथा-अबादिसंयुक्तं तेजः। अनुद्भूत-रूपस्पर्शोऽप्रत्यक्षश्चाक्षुषो रश्मिरिति ॥ ३८ ॥

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ॥ ३९ ॥

यथा चेतनस्यार्थो विषयोपलब्धिभूतः सुखदुःखोपलब्धिभूतश्च कल्प्यते, तथेन्द्रियाणि व्यूढानि, विषयप्राप्त्यर्थश्च रश्मेश्चाक्षुषस्य व्यूहः। रूपस्पर्शानभिव्यक्तिश्च व्यवहारप्रवृत्त्यर्था[1] द्रव्यविशेषे च प्रतिघातादावरणोपपत्तिर्व्यवहारार्था। सर्वद्रव्याणां विश्वरूपो व्यूह इन्द्रियवत् कर्मकारितः पुरुषार्थतन्त्रः। कर्म तु धर्माधर्मभूतं चेतनस्योपभोगार्थमिति।

अव्यभिचाराच्च प्रतिघातो भौतिकधर्मः[2]।

यश्चावरणोपलम्भादिन्द्रियस्य द्रव्यविशेषे प्रतिघातः स भौतिकधर्मो न भूतानि व्यभिचरति, नाभौतिकं प्रतिघातधर्मकं दृष्टमिति। अप्रतिघातस्तु व्यभिचारी; भौतिकाभौतिकयोः समानत्वादिति।

अनेक द्रव्यों के समवाय सम्बन्ध होने से तथा ('उद्भूत' नामक) रूपविशेष से रूपसहित द्रव्यों की उपलब्धि होती है॥ ३८

जहाँ रूप, द्रव्य तथा तदाश्रय प्रत्यक्षतः उपलब्ध होते हैं; वहाँ रूपविशेष प्रयोजक है, जिसकी सत्ता से रूपोलब्धि होती है, तथा अभाव से कहीं रूपोपलब्धि नहीं हो पाती-यह रूपधर्म 'उद्भव' कहलाता है। यह चाक्षुष रश्मि अनुद्भूत होने के कारण प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं हो पाती। लोक में तेज का भी धर्मभेद देखा जाता है, यथा—तेज अद्भूतरूपस्पर्श वाला प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, जैसे—सूर्य की किरणें। उद्भूतरूप तथा अनुद्भूतस्पर्श वाला तेज प्रत्यक्षतः उपलब्ध होता है, जैसे—दीपक की लौ। परन्तु वही उद्भूतस्पर्श तथा अनुद्भूतरूप वाला होता हुआ प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होता, जैसे जलादिसंयुक्त तेज। इस नय से चाक्षुष रश्मि (कनीनिका) अनुद्भूतरूपस्पर्श वाली होती हुई प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होती॥ ३८॥

कर्म से प्रेरित यह इन्द्रियों की रचना उपभोग की साधिका है॥ ३९॥

जिस प्रकार चेतन के अभीप्सित या जिहासित अर्थ सुख दुःख उसके हेतु है, उसी प्रकार चेतन के लिये सुखदुःखोपलब्धिरूप विषयोपलब्धि की कल्पना की जाती है, उसी चेतन के लिये ये इन्द्रियाँ भी रची गयी हैं। विषयसंयोग के लिये चाक्षुषरश्मि की रचना की गयी है। रूप या स्पर्श का अनुभूतत्व व्यवहारप्रवृत्ति के लिये है। द्रव्यविशेष में गतिनिरोधक संयोग से चक्षु की आवरणोपपत्ति भी व्यवहार के लिये है। सभी द्रव्यों की विश्व के रूप में विचित्र रूपरचना इन्द्रियों की तरह ही कर्मप्रेरित है, यह रचना पुरुषार्थसाधिका है। तथा कर्म धर्माधर्म रूप से चेतन के उपभोग के लिये है।

व्यभिचार न होने से यह गतिनिरोधक संयोग होना भौतिक धर्म माना गया है। जो यह आवरण की उपलब्धि से इन्द्रिय का द्रव्यविशेष में गतिनिरोधक संयोग है, वह भौतिक धर्म है, तथा

---

१. ०प्रक्लृप्त्यर्था—इति पाठ०।
२. केचिट्टीकाकाराः सूत्रकारीयं सूत्रमिदं मन्यन्ते। वस्तुतस्तु भाष्यकारीयमेवेदं सूत्रम्; न्यायसूचीनिबन्धेऽदृष्टत्वात्।

यदपि मन्यते—प्रतिघाताद् भौतिकानीन्द्रियाणि, अप्रतिघातादभौतिकानीति प्राप्तम्? दृष्टश्चाप्रतिघातः काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः? तन्न युक्तम्; कस्मात्? यस्माद्भौतिकमपि न प्रतिहन्यते, काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितप्रकाशात् प्रदीपरश्मीनाम्, स्थाल्यादिषु पाचकस्य तेजसोऽप्रतिघातः ॥ ३९ ॥

उपपद्यते चानुपलब्धिः, कारणभेदात्।

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥ ४० ॥

यथा 'अनेकद्रव्येण समवायाद्रूपविशेषाच्चोपलब्धिः' (३.१.३८) इति सत्युपल-ब्धिकारणे मध्यन्दिनोल्काप्रकाशो नोपलभ्यते आदित्यप्रकाशेनाभिभूतः, एवं ''महदनेकद्रव्य-वत्त्वाद् रूपविशेषाच्चोपलब्धिः'' इति सत्युपलब्धिकारणे चाक्षुषो रश्मिर्नोपलभ्यते निमित्तान्तरतः। तच्च व्याख्यातम्—अनुद्भूतरूपस्पर्शस्य द्रव्यस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरिति अत्यन्तानुपलब्धिश्चाभावकारणम् ॥ ४० ॥

यो हि ब्रवीति—'लोष्टप्रकाशो मध्यन्दिने आदित्यप्रकाशाभिभवान्नोपलभ्यते' इति, तस्यैतत् स्यात्—

न रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ ४१ ॥

वह भूतों से व्यभिचरित नहीं होता। अर्थात् ऐसा संयोग कहीं भी अभौतिक नहीं देखा गया। हाँ, अप्रतिघात (अतादृश संयोग) अवश्य व्यभिचारी हो सकता है; क्योंकि वह भौतिक, अभौतिक—दोनों में ही समानतया घट सकता है।

जो यह मानता है—'प्रतिघात से इन्द्रियाँ भौतिक सिद्ध होती हैं, अप्रतिघात से भी हो सकती है; क्योंकि काचाभ्रपटलस्फटिकादि में अप्रतिघात देखा जाने से इन्द्रियों में भी अप्रतिघात बन सकता है, तब तो इन्द्रियों को अभौतिक भी मानना पड़ेगा?' यह अयुक्तियुक्त है; क्योंकि कभी कभी भौतिक में प्रतिघात नहीं भी होता, जैसे काचाभ्रपटलस्फटिकादि के मध्य से भी प्रदीपरश्मियों का प्रकाश निकल ही जाता है। स्थाली आदि में भी विक्लित्तिजनक तेज (अग्नि) का अप्रतिघात देखा जाता है॥ ३९॥

हाँ, कारणभेद से वह अनुपलब्धि भी उपपन्न होती है।

मध्याह्न में ताराप्रकाश की अनुपलब्धि की तरह उसकी अनुपलब्धि बन सकती है॥ ४०॥

जैसे ''अनेक द्रव्यों से समवायसमवेतत्व सम्बन्ध और 'उद्भूत' नामक रूपविशेष से द्रव्योपलब्धि होती है'' (३.१.३८)-इस नियम से उपलब्धिकारण होने पर भी मध्य दिन में ताराओं का प्रकाश नहीं दिखायी पड़ता; क्योंकि वह आदित्यप्रकाश से अभिभूत रहता है, उसी प्रकार 'महत्त्ववान्, अनेकद्रव्यवान् होने से रूपविशेष से उपलब्धि होती है' (वै० सू० ४.१.६) इस नियम में उपलब्धिकारण होने पर भी चाक्षुषकी उपलब्धि रश्मि निमित्तान्तर से नहीं हो पाती। यह हम पीछे कह ही चुके हैं कि अनुद्भूतरूप-स्पर्शवान् द्रव्य की प्रत्यक्षतः उपलब्धि नहीं होती। अत्यन्तानुपलब्धि ('यदि स्यात् तर्हि उपलभ्येत' ऐसी योग्यानुपलब्धि) तदभाव का कारण बन सकती है॥ ४०॥

जो यह कहें—'ढेले का प्रकाश भी मध्याह्न में आदित्य के प्रकाश से अभिभूत होने के कारण उपलब्ध नहीं होता', उनको यह उत्तर देना चाहिये—

रात्रि में भी उसकी उपलब्धि न होने से ऐसा नहीं कह सकते॥ ४१॥

अप्यनुमानतोऽनुपलब्धेरिति। एवमत्यन्तानुपलब्धेर्लोष्टप्रकाशो नास्ति, न त्वेवं चाक्षुषो रश्मिरिति ॥ ४१ ॥

उपपत्तिरूपा चेयम्—

बाह्यप्रकाशानुग्रहाद्विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ॥ ४२ ॥

बाह्येन प्रकाशेनानुगृहीतं चक्षुर्विषयग्राहकं तदभावेऽनुपलब्धिः। सति च प्रकाशानुग्रहे शीतस्पर्शोपलब्धौ च सत्यां तदाश्रयस्य द्रव्यस्य चक्षुषाऽग्रहणम्, रूपस्यानुद्भूतत्वात्। सेयं रूपानभिव्यक्तितो रूपाश्रयस्य द्रव्यस्यानुपलब्धिर्दृष्टा। तत्र यदुक्तम्—'तदनुपलब्धेरहेतुः' (३.१.३५) इत्येतदयुक्तम् ॥ ४२ ॥

कस्मात् पुनरभिभवोऽनुपलब्धिकारणं चाक्षुषस्य रश्मेर्नोच्यत इति?

अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥ ४३ ॥

बाह्यप्रकाशानुग्रहनिरपेक्षतायां चेति चार्थः। यद्रूपमभिव्यक्तमुद्भूतं बाह्यप्रकाशानुग्रहं च नापेक्षते तद्विषयोऽभिभवः; विपर्ययेऽभिभवाभावात्। अनुद्भूतरूपत्वाच्चानुपलभ्यमानं बाह्यप्रकाशानुग्रहाच्चोपलभ्यमानं नाभिभूयत इति एवमुपपन्नम्—अस्ति चाक्षुषो रश्मिरिति ॥ ४३ ॥

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥ ४४ ॥

दृश्यन्ते हि नक्तं नयनरश्मयो नक्तञ्चराणां वृषदंशप्रभृतीनाम्। तेन शेषस्यानुमानमिति।

उस ढेले के प्रकाश की अनुमान से भी उपलब्धि नहीं होती। इस प्रकार उसकी अत्यन्तानुपलब्धि से 'ढेले में प्रभा नहीं होती'—यही सिद्ध होता है। ऐसी अत्यन्तानुपलब्धि अनुमान से चक्षुरश्मि में सिद्ध नहीं की जा सकती ॥ ४१ ॥

यह चक्षुरश्मि में अनुपलब्धि उपपत्तिरूपवती भी है—

बाह्य प्रकाश के सहारे रूपोपलब्धि होने से उस रूप की अनभिव्यक्ति से भी अनुपलब्धि हो सकती है ॥ ४२ ॥

चक्षु बाह्य प्रकाश का सहारा लेकर ही विषय को गृहीत करता है उस के रहते भी रूप की उपलब्धि नहीं हो पाती। अर्थात् प्रकाश का सहारा मिलने पर, तथा शीतस्पर्श की उपलब्धि होने पर भी रूपानभिव्यक्ति से रूपाश्रित द्रव्य (तारागण आदि) की अनुपलब्धि देखी जाती है; क्योंकि वह रूप उद्भूत नहीं है। उसके लिये आपका 'उसके न मिलने से वह नहीं है' ऐसा कहना अयुक्तियुक्त है ॥ ४२ ॥

तो यही क्यों नहीं कहते कि चाक्षुषरश्मि की अनुपलब्धि में उसका अभिभव ही कारण है? नहीं; क्योंकि

अभिव्यक्ति में भी अभिभव देखा जाता है ॥ ४३ ॥

'बाह्यप्रकाश के आलम्बन की अपेक्षा न रखने की अवस्था में' सूत्रस्थ 'च' शब्द का अर्थ है। जिसका रूप अभिव्यक्त तथा उद्भूत होकर बाह्य प्रकाश के सहारे की आवश्यकता नहीं रखता, उसका अभिभव हो सकता है, इसके विपरीत का नहीं। अर्थात् अनुद्भूतरूप होने से अनुपलभ्यमान, और बाह्य प्रकाश के आलम्बन से उपलभ्यमान द्रव्य अभिभूत नहीं होता। यों सिद्ध हो गया कि चाक्षुष रश्मि है ॥ ४३ ॥

रात्रि में घूमने फिरने वाले प्राणियों की चक्षुरश्मि भी देखी जाती है ॥ ४४ ॥

जातिभेदवदिन्द्रियभेद इति चेत्? धर्मभेदमात्रं चानुपपन्नम्, आवरणस्य प्राप्तिप्रतिषेधार्थस्य दर्शनादिति ॥ ४४ ॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वानुपपत्तिः, कस्मात्?

अप्राप्यग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः? ॥ ४५ ॥

तृणादि सर्पद् द्रव्यं काचे, अभ्रपटले वा प्रतिहतं दृष्टमव्यवहितेन सन्निकृष्यते व्याहन्यते वै प्राप्तिर्व्यवधानेनेति। यदि च रश्म्यर्थसन्निकर्षो ग्रहणहेतुः स्यात्, न व्यवहितस्य सन्निकर्ष इत्यग्रहणं स्यात्। अस्ति चेयं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धिः, सा ज्ञापयति—अप्राप्यकारीणीन्द्रियाणि, अत एवाभौतिकानि। प्राप्यकारित्वं हि भौतिकधर्म इति ॥ ४५ ॥

कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥ ४६ ॥

अप्राप्यकारित्वे सतीन्द्रियाणां कुड्यान्तरितस्यानुपलब्धिर्न स्यात् ॥ ४६ ॥

प्राप्यकारित्वेऽपि तु काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धिर्न स्यात्?

अप्रतिघातात् सन्निकर्षोपपत्तिः ॥ ४७ ॥

न च काचः, अभ्रपटलं वा नयनरश्मिं विष्टभ्नाति, सोऽप्रतिहन्यमानः सन्निकृष्यत इति ॥ ४७ ॥

रात्रि में विचरण करनेवाले प्राणी बिडालादि की चक्षुरश्मि रात्रिकाल में भी दीख पाती है। अतः उससे मनुष्यादि नेत्र का अनुमान हो सकता है।

जातिभेद की तरह इन्द्रियों का भी भेद मान लें, ताकि बिडालादि-चक्षुरश्मियों से मनुष्य चक्षु का अनुमान न हो सके? तो भी धर्मभेद अनुपपन्न ही रह जायगा; क्योंकि वहाँ संयोगप्रतिषेधार्थक आवरण तो समान रूप से मिलता ही है ॥ ४४ ॥

[यों तैजसत्व सिद्ध कर, अब विपक्षोक्तप्राप्यकारित्वपक्ष का खण्डन करते हैं—]

शङ्का—इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष ज्ञानकारण कैसे होगा? है, क्योंकि—

चक्षुरादि अप्राप्य के ज्ञानसाधन हैं, काच, अभ्रपटल, स्फटिकादि के व्यवधान में भी उपलब्धि देखी जाने से? ॥ ४५ ॥

लोक में, सरकता हुआ तृणादि पदार्थ काच या अभ्रपटल में निरुद्धगतिक तथा अव्यवधान होने पर वही पदार्थ काचान्तर्गत पदार्थ से सम्बद्ध होता देखा गया है, और संयोग कुड्यादि के व्यवधान से निरुद्ध हो जाता है। यदि चक्षुरश्मि तथा अर्थ का सन्निकर्ष ज्ञानकारण होता तो व्यवहित के साथ सन्निकर्ष होता नहीं, अतः उसका ज्ञान नहीं होता। जब कि लोक में काच, अभ्रपटल, स्फटिकादि से व्यवधान होने पर भी व्यवहित उपलब्धि देखी जाती है, अतः वह सिद्ध करती है कि इन्द्रियाँ अप्राप्य का ज्ञान कराने वाली हैं। अतएव ये अभौतिक भी हैं, क्योंकि प्राप्त का ज्ञान कराना भौतिक धर्म है? ॥ ४५ ॥

कुड्यादि के व्यवधान द्वारा अनुपलब्धि हेतु से प्रतिषेध नहीं बनता ॥ ४६ ॥

इन्द्रियों को अप्राप्यकारित्व मानने पर कुड्यादि से व्यवहित की अनुपलब्धि नहीं बनेगी ॥ ४६ ॥

प्राप्यकारित्व मानने पर भी तो काच, अभ्रपटल, स्फटिकादि से व्यवहित की उपलब्धि नहीं होगी?

अप्रतिघात (गतिनिरोध) से सन्निकर्षोपलब्धि हो जायगी ॥ ४७ ॥

यश्च मन्यते—न भौतिकस्याप्रतिघात इति? तन्न;

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेऽपि दाह्येऽविघातात्॥ ४८॥

आदित्यरश्मेरविघातात्, स्फटिकान्तरितेऽप्यविघातात्, दाह्येऽविघातात्। अविघातादिति च पदाभिसम्बन्धाद् वाक्यभेद इति। प्रतिवाक्यं[1] चार्थभेद इति। आदित्यरश्मिः कुम्भादिषु न प्रतिहन्यते; अविघातात् कुम्भस्थमुदकं तपति, प्राप्तौ हि द्रव्यान्तरगुणस्य उष्णस्य स्पर्शस्य ग्रहणम्, तेन च शीतस्पर्शाभिभव इति। स्फटिकान्तरितेऽपि प्रकाशनीये प्रदीपरश्मीनामप्रतिघातः, अप्रतिघातात् प्राप्तस्य ग्रहणमिति। भर्जनकपालादिस्थं च द्रव्यमाग्नेयेन तेजसा दह्यते, तत्राविघातात् प्राप्तिः, प्राप्तौ तु दाहः। नाप्राप्यकारि तेज इति।

अविघातादिति च केवलं पदमुपादीयते। कोऽयमविघातो नाम? अव्यूह्यमानावयवेन व्यवधायकेन द्रव्येण सर्वतो द्रव्यस्याविष्टम्भः, क्रियाहेतोरप्रतिबन्धः, प्राप्तेरप्रतिषेध इति। दृष्टं हि कलशनिषक्तानामपां बहिः शीतस्पर्शस्य ग्रहणम्। न चेन्द्रियेणासन्निकृष्टस्य द्रव्यस्य स्पर्शोपलब्धिः। दृष्टौ च प्रस्पन्दपरिस्रवौ। काचाभ्रपटलादिभिर्नयनरश्मेरप्रतिघाताद्विभिद्यार्थेन सहसन्निकर्षादुपपन्नं ग्रहणमिति॥ ४८॥

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात्?॥ ४९॥

काच या अभ्रपटल चक्षूरश्मि की गति में अवरोध नहीं करते। अतः वह अनिरुद्ध होती हुई अर्थ से सन्निकृष्ट हो जाती है॥ ४७॥

जो यह मानता है—'भौतिक का गत्यनिरोध नहीं होता', यह उचित नहीं;

आदित्यरश्मि के स्फटिक से व्यवहित होने पर भी दाह्यकर्म में गतिनिरोध न होने से॥ ४८॥

इस सूत्र में 'अविघातात्' इस पद के अभिसम्बन्ध से आदित्यरश्मि के अविघात से, स्फटिक के अविघात से, दाह्य में अविघात से—ये तीन वाक्य हैं। वाक्यों के अनुसार ही तीन अर्थ हैं। आदित्यरश्मि घटादिक में निरुद्ध नहीं होतीं, अविघात होने से। क्योंकि घटस्थ जल उष्ण हो जाता है। संयोग होने पर, अन्य तेज के गुण उष्ण स्पर्श का ग्रहण हो जाता है, तथा जल का अपना गुण शीतस्पर्श अभिभूत हो जाता है। इसी तरह स्फटिक से व्यवहित प्रकाश्य अर्थ के सन्निकर्ष में प्रदीपरश्मियों का निरोध नहीं होता, अविघात होने से संयुक्त अर्थ का ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार भ्राष्ट्र के खप्पर में पड़ा चणकादि पदार्थ आग्नेय तेज से भुन जाता है, वहाँ उस तेज का संयोग अविघात से ही होता है। संयोग से वहाँ दाह उत्पन्न होता है! अतः तेज अप्राप्यकारी नहीं है।

'अविघात' यह पद केवल (विशेषणशून्य) लिया जाता है। यह अविघात क्या है? वियुक्त न हो सकने योग्य अवयवों वाले व्यवधायक द्रव्य से द्रव्य का सर्वतः अविष्टम्भ (गति का अप्रतिबन्ध)=प्राप्ति (संयोगव्यापार) का अप्रतिबन्ध, अर्थात् संयोग का अप्रतिबन्ध। लोक में हम देखते हैं कि घट में भरे जल का शीतस्पर्श बाहर गृहीत होता है, जब कि इन्द्रियाँ असन्निकृष्ट द्रव्य के स्पर्श का ग्रहण नहीं कर पातीं। उसी तरह प्रस्पन्द (अन्तःस्थितद्रव्य का बहिःसरण), प्रस्रवण भी देखे जाते हैं। अतः काच, अभ्रपटलादि से चक्षूरश्मि का अप्रतिघात होने से वह काचावयव विभक्त होकर अर्थ के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने से सन्निकृष्ट का ग्रहण हो जाता है॥ ४८॥

शङ्का—

इतरेतरधर्मप्रसङ्ग से प्रतिघात नहीं बनेगा?॥ ४९॥

---

१. 'यथावाक्यम्'—इति पाठा०।

काचाभ्रपटलादिवद्वा कुड्यादिभिरप्रतिघातः, कुड्यादिवद्वा काचाभ्रपटलादिभिः प्रतिघात इति प्रसज्यते, नियमे कारणं वाच्यमिति?॥ ४९॥

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद् रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः॥ ५०॥

आदर्शोदकयोः प्रसादो रूपविशेषः स्वो धर्मः, नियमदर्शनात्; प्रसादस्य वा स्वो धर्मो रूपोपलम्भनम्। यथाऽऽदर्शप्रतिहतस्य परावृत्तस्य नयनरश्मेः स्वेन मुखेन सन्निकर्षे सति स्वमुखोपलम्भनं प्रतिबिम्बग्रहणाख्यमादर्शरूपानुग्रहात् तन्निमित्तं भवति, आदर्शरूपोपघाते तदभावाद्, कुड्यादिषु च प्रतिबिम्बग्रहणं न भवति; एवं काचाभ्रपटलादिभिरविघातश्चक्षूरश्मेः, कुड्यादिभिश्च प्रतिघातः; द्रव्यस्वभावनियमादिति॥ ५०॥

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः॥ ५१॥

प्रमाणस्य तत्त्वविषयत्वात्। न खलु भोः! परीक्षमाणेन दृष्टानुमिता अर्थाः शक्या नियोक्तुम्-एवं भवतेति, नापि प्रतिषेद्धुम्-एवं न भवतेति। न हीदमुपपद्यते-रूपवद्गन्धोऽपि चाक्षुषो भवत्विति, गन्धवद्वा रूपं चाक्षुषं मा भूदिति, अग्निप्रतिपत्तिवद् धूमेनोदकप्रतिपत्तिरपि भवत्विति, उदकाप्रतिपत्तिवद्वा धूमेनाग्निप्रतिपत्तिरपि मा भूदिति। किं कारणम्? यथा खल्वर्था भवन्ति य ऐषां स्वो भावः स्वो धर्म इति, तथाभूताः प्रमाणेन प्रतिपद्यन्ते इति। तथाभूतविषयकं हि प्रमाणमिति। इमौ खलु नियोगप्रतिषेधौ भवता देशितौ—काचाभ्रपटलादिवद्वा कुड्यादिभि-

---

काच, अभ्रपटलादि की तरह कुड्यादि से अप्रतिघात, या कुड्यादि की तरह काच अभ्रपटलादि से प्रतिघात—यों उभयथा प्रसक्ति होने लगेगी। अतः आप अपने नियम में कोई हेतु बतायें?॥ ४९॥

आदर्श तथा उदक के स्वच्छतारूप धर्म से रूपोपलब्धि की तरह उक्त उपलब्धि बन जायगी॥ ५०॥

आदर्श (शीशा) तथा उदक का स्वच्छतानामक रूपविशेष नियमतः देखा जाने से नियम स्वधर्म है, अथवा स्वच्छता का स्वधर्म रूपोपलब्धि कराना है। जैसे—आदर्श का व्यवधान पाकर लौटती हुई नयनरश्मि का स्वमुख से सन्निकर्ष होने पर 'प्रतिबिम्ब-ज्ञान' नामक स्वमुखोपलब्धि आदर्श की स्वच्छता के सहारे से तन्निमित्तक हो जाती है, आदर्शस्थ रूपोपघात होने पर वह नहीं हो पाती। इसी तरह काच या अभ्रपटलादि का अविघात, चक्षूरश्मि का कुड्यादि से प्रतिघात—ये दोनों भी द्रव्यस्वभावनियम से बनते हैं॥ ५०॥

प्रत्यक्ष तथा अनुमान से सिद्ध विषयों के विषय में नियोग (आज्ञा) या निषेध नहीं बनते॥ ५१॥

प्रमाण यथार्थवस्तुविषयक होता है। अरे भाई! परीक्षकों द्वारा प्रत्यक्षकृत तथा अनुमित विषयों के विषय में अपनी इच्छा से नियम बनाकर 'आप ऐसा करें' यह आज्ञा या 'आप ऐसा न करें' यह निषेध नहीं बना करता। यह कभी भी नहीं हो सकता कि रूप की तरह गन्ध भी चक्षु से गृहीत होने लगे, या गन्ध की तरह रूप भी चक्षु से गृहीत न हो। और ऐसा भी नहीं होता कि धूम से अग्नि के प्रतिपादन की तरह जल का प्रतिपादन होने लगे, या जल की तरह अग्नि का भी प्रतिपादन न हो। कारण क्या है? जैसे विषय होते हैं और जैसी उनकी सत्ता तथा धर्म होते है वैसे ही ये (तद्धर्मयुक्त) प्रमाण से प्रतिपन्न हो जाते हैं। प्रमाण भी भूतविषयक (सत्यार्थप्रकाशक) होते हैं। आपने ये नियोग तथा प्रतिषेध प्रकृति में बतलाये—काच, अभ्रपटलादि की तरह कुड्यादि से अप्रतिघात हो (नियोग),

रप्रतिघातो भवतु, कुड्यादिवद्वा काचाभ्रपटलादिभिरप्रतिघातो मा भूदिति? न; दृष्टानुमिताः खल्विमे द्रव्यधर्माः, प्रतिघाताप्रतिघातयोर्ह्युपलब्ध्यनुपलब्धी व्यवस्थापिके। व्यवहितानुपलब्ध्याऽनुमीयते-कुड्यादिभिः प्रतिघातः, व्यवहितोपलब्ध्याऽनुनीयते—काचाभ्रपटलादिभिरप्रतिघात इति॥ ५१॥

इन्द्रियनानात्वपरीक्षाप्रकरणम् [५२-६२]

अथापि खल्वेकमिदमिन्द्रियम्? बहूनीन्द्रियाणि वा?

कुतः संशयः?

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च संशयः॥ ५२॥

बहूनि द्रव्याणि नानास्थानानि दृश्यन्ते, नानास्थानश्च सन्नेकोऽवयवी चेति। तेनेन्द्रियेषु भिन्नस्थानेषु संशय इति॥ ५२॥

एकमिन्द्रियम्;

त्वगव्यतिरेकात्?॥ ५३॥

त्वगेकमिन्द्रियमित्याह। कस्मात्? अव्यतिरेकात्। न त्वचा किञ्चिदिनिन्द्रयाधिष्ठानं न प्राप्तम्, न चासत्यां त्वचि किञ्चिद्विषयग्रहणं भवति, यया सर्वेन्द्रियस्थानानि व्याप्तानि, यस्यां च सत्यां विषयग्रहणं भवति, सा त्वगेकमिन्द्रियमिति?

या कुड्यादि की तरह काचाभ्रपटलादि से अप्रतिघात न हो (प्रतिषेध)—ये दोनों नहीं बनेंगे; क्योंकि ये द्रव्यधर्म या तो प्रत्यक्षगम्य हैं, या अनुमेय। उपलब्धि या अनुपलब्धि प्रतिघात तथा अप्रतिघात की व्यवस्थापिका हो सकती है। व्यवधान होने पर व्यवहित की अनुपलब्धि से अनुमान होता है कि कुड्यादि से प्रतिघात होता है, व्यवधान होने पर भी उपलब्धि से अनुमान होता है कि काचाभ्रपटलादि से अप्रतिघात होता है॥ ५१॥

एक इन्द्रिय है, या बहुत सी इन्द्रियाँ हैं?—यह संशय क्यों हुआ?

स्थान के अन्य होने पर अनेकत्व देखा जाने से, तथा एक अनवयविद्रव्य के अनेक स्थानों में देखा जाने से॥ ५२॥

बहुत से द्रव्य अनेक स्थानों में देखे जाते हैं, और कई बार एक ही अवयवी अनेक स्थानों में देखा जाता है। अतः उक्त उभयविध संशय भिन्न स्थान वाली इन्द्रियों के विषय में उत्पन्न हुआ॥ ५२॥

शङ्का—इन्द्रिय एक है; क्योंकि

अभेद सम्बन्ध से त्वक् (नामक एक ही इन्द्रिय है)?॥ ५३॥

पूर्वपक्षी कहता है कि 'त्वग्' ही एक इन्द्रिय है; क्योंकि वहाँ अभेद सम्बन्ध है। ऐसा कौन सा इन्द्रियाधिष्ठान है, जो त्वक् ने न प्राप्त किया हो, या त्वक् के न रहने पर कौन सा विषय गृहीत हो सकता है! अतः जिससे सभी इन्द्रियस्थान व्याप्त हैं, या जिसके रहने पर सब विषयों का ग्रहण हो पाता है, वह 'त्वग्' ही एक इन्द्रिय है?

उत्तर—नहीं, क्योंकि त्वगिन्द्रिय से दूसरी इन्द्रियों के विषय उपलब्ध नहीं हो पाते। स्पर्शोपलब्धिलक्षणवाली त्वगिन्द्रिय द्वारा गृह्यमाण स्पर्श से अन्ध पुरुष रूपादि का ग्रहण नहीं कर पाते! यदि स्पर्शग्राहक इन्द्रिय से अतिरिक्त अन्य इन्द्रियाँ न होती तो स्पर्श की तरह रूपादि का ज्ञान भी अन्य पुरुषों को होना चाहिये। होता है नहीं, अतः निश्चित है कि एक 'त्वग्' ही इन्द्रिय नहीं है (अपितु अन्य इन्द्रियाँ भी हैं)।

न; इन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः। स्पर्शोपलब्धिलक्षणायां सत्यां त्वचि गृह्यमाणे त्वगिन्द्रियेण स्पर्शे इन्द्रियान्तरार्था रूपादयो न गृह्यन्ते अन्धादिभिः। न स्पर्शग्राहकादिन्द्रियादिन्द्रियान्तरमस्तीति स्पर्शवदन्धादिभिर्गृह्येरन् रूपादयः, न च गृह्यन्ते; तस्मान्नैकमिन्द्रियं त्वगिति।

त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः। यथा त्वचोऽवयवविशेषः कश्चिच्चक्षुषि सन्निकृष्टो धूमस्पर्शं गृह्णाति नान्यः; एवं त्वचोऽवयवविशेषा रूपादिग्राहकाः, तेषामुपघातादन्धादिभिर्न गृह्यन्ते रूपादय इति?

व्याहतत्वादहेतुः। त्वगव्यतिरेकादेकमिन्द्रियमित्युक्त्वा 'त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवद्रूपाद्युपलब्धिः' इत्युच्यते। एवं च सति, नानाभूतानि विषयग्राहकाणि, विषयव्यवस्थानात्; तद्भावे विषयग्रहणस्य भावात्, तदुपघाते चाभावात्। तथा च पूर्वो वाद उत्तरेण वादेन व्याहन्यत इति।

सन्दिग्धश्चाव्यतिरेकः। पृथिव्यादिभिरपि भूतैरिन्द्रियाधिष्ठानानि व्याप्तानि, न च तेष्वसत्सु विषयग्रहणं भवतीति। तस्मान्न त्वगन्यद्वा सर्वविषयमेकमिन्द्रियमिति॥ ५३॥

न; युगपदर्थानुपलब्धेः॥ ५४॥

आत्मा मनसा सम्बध्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियं सर्वार्थैः सन्निकृष्टमिति—आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षेभ्यो युगपद् ग्रहणानि स्युः। न च युगपद्रूपादयो गृह्यन्ते, तस्मान्नैकमिन्द्रियं सर्वविषयकमस्तीति। असाहचर्याच्च विषयग्रहणानां नैकमिन्द्रियं सर्वविषयकम्, साहचर्ये हि विषयग्रहणानामन्धाद्यनुपपत्तिरिति॥ ५४॥

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका॥ ५५॥

'त्वगवयव ही इन्द्रियाँ हैं' ऐसा मानकर त्वगवयवविशेष से धूमोपलब्धि की तरह तत्तदर्थ की उपलब्धि हो जायगी। जैसे त्वग् का कोई अवयवविशेष चक्षु के समीप होता हुआ धूमस्पर्श का ग्रहण कर लेता है, अन्य अवयव नहीं; इसी तरह त्वग् के अवयवविशेष रूपादि के ज्ञाता हैं, उन अवयवविशेषों के उपघात से अन्ध पुरुषों को रूपादि गृहीत नहीं हो पाते?

वचनविरोध होने से यह हेतु नहीं बनता। पहले तो कहा था कि 'अभेद होने से केवल एक त्वगिन्द्रिय है'; अब कहते हो 'त्वगवयवविशेष से धूमाद्युपलब्धि की तरह रूपादि की उपलब्धि हो जाती है', ऐसा मानने पर विषयव्यवस्था से विषयग्राहक अनेक होंगे, जब वे होंगे तो विषयज्ञान हो जायगा, उनके उपघात होने पर विषयज्ञान न होगा। यों आपका वह पूर्वकथन इस उत्तरकथन से विरुद्ध पड़ रहा है।

अभेद हेतु भी सन्दिग्ध है। पृथिवी आदि अन्य भूतों द्वारा इन्द्रियाधिष्ठान व्याप्त हैं, उन भूतों के रहे विना विषयज्ञान नहीं हो सकता। अतः त्वग्, या कोई अन्य इन्द्रिय एकाकी सर्वविषयग्राहक नहीं है॥ ५३॥

अर्थों की एक साथ उपलब्धि न होने से एक ही इन्द्रिय नहीं है॥ ५४॥

'आत्मा मन से सम्बद्ध होता है, मन इन्द्रिय से, इन्द्रिय सब अर्थों से सन्निकृष्ट है'—इस सिद्धान्त से आत्मा, मन, इन्द्रिय, अर्थ के सन्निकर्षों से एक ही साथ अनेक ज्ञान होने चाहिये। जब कि रस-रूपादिज्ञान एक साथ नहीं होते। अतः यह निश्चित है कि सर्वविषयग्राहक एक इन्द्रिय नहीं है। यदि युगपदर्थज्ञान मानोगे तो अन्धादि को भी स्पर्श के साथ साथ रूपादि का ज्ञान होने लगेगा॥ ५४॥

न खलु त्वगेकमिन्द्रियम्; व्याघातात्। त्वचा रूपाण्यप्राप्तानि गृह्यन्त इति, अप्राप्यकारित्वे स्पर्शादिष्वप्येवं प्रसङ्गः। स्पर्शादीनां च प्राप्तानां ग्रहणाद् रूपादीनां प्राप्तानां ग्रहणमिति प्राप्तम्।

प्राप्याप्राप्यकारित्वमिति चेत्? आवरणानुपपत्तेर्विषयमात्रस्य ग्रहणम्। अथापि मन्येत- प्राप्ताः स्पर्शादयस्त्वचा गृह्यन्ते, रूपाणि त्वप्राप्तानीति? एवं सति नास्त्यावरणम्, आवरणानुपपत्तेश्च रूपमात्रस्य ग्रहणं व्यवहितस्य चाव्यवहितस्य चेति। दूरान्तिकानुविधानं च रूपोपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्न स्यात्। अप्राप्तं त्वचा गृह्यते रूपमिति दूरे रूपस्याग्रहणम्, अन्तिके च ग्रहणम्-इत्येतन्न स्यादिति॥ ५५॥

एकत्वप्रतिषेधाच्च नानात्वसिद्धौ स्थापनाहेतुरप्युपादीयते—

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्॥ ५६॥

अर्थः प्रयोजनम्, तत् पञ्चविधमिन्द्रियाणाम्, स्पर्शनेनेन्द्रियेण स्पर्शग्रहणे सति न तेनैव रूपं ग्रह्यत इति रूपग्रहणप्रयोजनं चक्षुरनुमीयते; स्पर्शरूपग्रहणे च ताभ्यामेव न गन्धो गृह्यत इति गन्धग्रहणप्रयोजनं घ्राणमनुमीयते; त्रयाणां ग्रहणे न तैरेव रसो गृह्यते इति रसग्रहणप्रयोजनं रसनमनुमीयते; चतुर्णां ग्रहणे न तैरेव शब्दः श्रूयते इति शब्दग्रहणप्रयोजनं श्रोत्रमनुमीयते। एवमिन्द्रियप्रयोजनस्यानितरेतरसाधनसाध्यत्वात् पञ्चैवेन्द्रियाणि॥ ५६॥

विप्रतिषेध के कारण एक त्वग् ही इन्द्रिय नहीं है॥ ५५॥

अर्थविरोध होने से त्वग् ही एक इन्द्रिय नहीं है; क्योंकि त्वग् से रूप अप्राप्त होते हुए गृहीत होते हैं। यों अप्राप्यकारित्व मानने पर स्पर्शादि में भी अप्राप्यकारित्वप्रसङ्ग होने लगेगा। प्राप्त स्पर्शादि के ग्रहण से प्राप्त रूपादि का भी ग्रहणप्रसङ्ग प्राप्त होगा।

यदि इन्द्रिय को प्राप्याप्राप्यकारित्व मानें तो आवरणानुपपत्ति होने से विषयमात्र का ग्रहण होने लगेगा। यदि यह मानें कि 'प्राप्य स्पर्शादि त्वग् से गृहीत हो जाते हैं, किन्तु रूपादि प्राप्य होकर गृहीत नहीं होते' तो आवरण की बात कहाँ आयगी कि इसकी अनुपपत्ति से व्यवहित या अव्यवहित रूपादि का ग्रहण होना चाहिये। सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट वाली बात रूपोपलब्धि या रूपानुपलब्धि में नहीं बनेगी। 'त्वग् द्वारा अप्राप्य रूप गृहीत होगा तो दूर होने से गृहीत नहीं होता, समीप का रूप गृहीत हो जाता है'—यह व्यवस्था नहीं बनेगी॥ ५५॥

एकत्व के खण्डन से अनेकत्व सिद्ध हो जाने पर, उस अनेकत्व की स्थापना में हेतु भी देते हैं—

इन्द्रियों के पाँच अर्थ होने से॥ ५६॥

अर्थ से सूत्रकार का तात्पर्य है—प्रयोजन। इन्द्रियों का वह प्रयोजन पाँच प्रकार का है। त्वगिन्द्रिय से स्पर्शज्ञान होने पर उसी से रूपज्ञान नहीं हो पाता—अतः उस ज्ञान के लिये चक्षुरिन्द्रिय का अनुमान होता है! स्पर्श तथा रूप का ज्ञान होने पर भी उन्हीं इन्द्रियों से गन्ध का ज्ञान नहीं होता; अतः गन्धज्ञान-प्रयोजनवाली घ्राणेन्द्रिय का अनुमान किया जाता है। इन तीनों का ज्ञान होने पर भी उन्हीं तीनों इन्द्रियों से रस का ज्ञान नहीं हो पाता—अतः रसज्ञान के लिये रसनेन्द्रिय का अनुमान होता है। इन चारों का ज्ञान उन उन इन्द्रियों से होने पर भी उन्हीं से शब्द नहीं सुनायी पड़ता, अतः शब्दग्रहणप्रयोजनक श्रोत्रेन्द्रिय का अनुमान करना पड़ता है। इस तरह इन इन्द्रियप्रयोजनों के एक दूसरे के साधनों द्वारा साध्य न होने से पाँच ही इन्द्रियाँ हैं॥ ५६॥

न; तदर्थबहुत्वात्?॥ ५७॥

न खल्विन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणीति सिध्यति। कस्मात्? तेषामर्थानां बहुत्वात्। बहवः खल्विमे इन्द्रियार्थाः—स्पर्शास्तावच्छीतोष्णानुष्णशीता इति, रूपाणि शुक्लहरितादीनि, गन्धा इष्टानिष्टोपेक्षणीयाः, रसाः कटुकादयः, शब्दा वर्णात्मानो ध्वनिमात्राश्च भिन्नाः। तद्यस्येन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणि, तस्येन्द्रियार्थबहुत्वाद् बहूनि इन्द्रियाणि प्रसज्यन्त इति?॥ ५७॥

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद् गन्धादीनामप्रतिषेधः॥ ५८॥

गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्थानां गन्धादीनां यानि गन्धादिग्रहणानि तान्यसमानसाधनसाध्यत्वात् ग्राहकान्तराणि प्रयोजयन्ति। अर्थसमूहोऽनुमानमुक्तः, नार्थैकदेशः, नार्थैकदेशं चाश्रित्य विषयपञ्चत्वमात्रं भवान् प्रतिषेधति; तस्मादयुक्तोऽयं प्रतिषेध इति।

कथं पुनर्गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्था गन्धादय इति? स्पर्शः खल्वयं त्रिविधः—शीत उष्णोऽनुष्णाशीतश्च स्पर्शत्वेन स्वसामान्येन संगृहीतः। गृह्यमाणे च शीतस्पर्शे, नोष्णस्यानुष्णाशीतस्य वा स्पर्शस्य ग्रहणं ग्राहकान्तरं प्रयोजयति; स्पर्शभेदानामेकसाधनसाध्यत्वाद्-येनैव शीतस्पर्शो गृह्यते तेनैवेतरावपीति। एवं गन्धत्वेन गन्धानाम्, रूपत्वेन रूपाणाम्, रसत्वेन रसनाम्, शब्दत्वेन शब्दानामिति। गन्धादिग्रहणानि पुनरसमानसाधनसाध्यत्वाद् ग्राहकान्तराणां प्रयोजकानि। तस्मादुपपन्नम्-'इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणि' इति॥ ५८॥

शङ्का—

उन इन्द्रियों का प्रयोजनबहुत्व होने से ऐसा नहीं?॥ ५७॥

इन्द्रियों के पाँच प्रयोजन होने से पाँच की सिद्धि करनी हो तो उतनी ही सिद्धि नहीं होती; क्योंकि उनके प्रयोजन बहुत से हैं। इन इन्द्रियप्रयोजनों की बहुलता है, जैसे—एक स्पर्श को ही लें—यह अकेला शीत, उष्ण, अनुष्ण भेदवाला है। इसी तरह शुक्ल, हरित आदि भेद से रूप अनेक प्रकार का है; गन्ध भी इष्ट, अनिष्ट, उपेक्षणीय भेद से; रस मधुर, कटु आदि भेद से; शब्द वर्ण तथा ध्वनि भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। अतः जो वादी यह कहता है कि 'इन्द्रियों के पाँच ही प्रयोजन होने से इन्द्रियाँ पाँच हैं', उसके सामने अनेक प्रयोजन सिद्ध होने से अनेक इन्द्रियों का प्रसङ्ग आ पड़ा?॥ ५७॥

उत्तर—

गन्धसमूह के गन्धत्वेन एक होने से गन्धादिक का प्रतिषेध नहीं होता॥ ५८॥

गन्धत्वादि स्वसामान्य (एकत्वजाति) से व्यवस्थित (अनुगत) गन्धादि का ज्ञान विजातीय तत्तत् साधनों (ग्राहकों) से साध्य हैं, अतः वे इन्द्रियान्तर का अनुमान कराने लगते हैं। क्योंकि हम अर्थसमूह को ही अनुमापक हेतु कहते हैं, न कि प्रयोजनैकदेश को; जब कि प्रयोजनैकदेश के सहारे आप विषय-पञ्चत्व का प्रतिषेध करने खड़े हो गये। अतः आपका यह प्रतिषेध उचित नहीं।

गन्धत्वादि स्वसामान्य से गन्धादि कैसे व्यवस्थित है? यह स्पर्श तीन प्रकार का है—शीत, उष्ण, अनुष्णाशीत भेद से। ये तीनों स्पर्शत्व स्वसामान्य से संगृहीत हो जाते हैं। शीतस्पर्श के गृहीत होते हुए उष्ण या अनुष्णशीत स्पर्श गृहीत होता है, उनका ग्रहण शीतस्पर्श ग्राहक से ही होता है। अतः एकसाधनसाध्य होने से उष्ण आदि स्पर्शान्तर का ग्रहण ग्राहकान्तर (इन्द्रियान्तर) का अनुमापक नहीं है। इसी प्रकार गन्धत्वसामान्य से समग्र गन्धों का, रूपत्वसामान्य से सभी रूपों का, रसत्वसामान्य से सम्पूर्ण रसों का, शब्दत्वसामान्य से सब शब्दों का ग्रहण सिद्ध हो सकता है।

यदि सामान्यं संग्राहकम्, प्राप्तमिन्द्रियाणाम्

विषयत्वाव्यतिरेकादेकत्वम् ? ॥५९॥

विषयत्वेन हि सामान्येन गन्धादयः संगृहीता इति ? ॥५९॥

न; बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः ॥६०॥

न खलु विषयत्वेन सामान्येन कृतव्यवस्था विषया ग्राहकान्तरनिरपेक्षा एकसाधनग्राह्या अनुमीयन्ते, अनुमीयन्ते च पञ्च गन्धादयो गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्था इन्द्रियान्तरग्राह्याः, तस्मादसम्बद्धमेतत्।

अयमेव चार्थोऽनूद्यते-बुद्धिलक्षणपञ्चत्वादिति। बुद्धय एव लक्षणानि विषयग्रहणलिङ्गत्वादिन्द्रियाणाम्, तदेतत् 'इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्' (३.१.५६) इत्येतस्मिन् सूत्रे कृतभाष्यमिति। तस्माद् बुद्धिलक्षणपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणि।

अधिष्ठानान्यपि खलु पञ्चेन्द्रियाणाम्। सर्वशरीराधिष्ठानं स्पर्शनं स्पर्शग्रहणलिङ्गम्, कृष्णसाराधिष्ठानं चक्षुर्बहिर्निःसृतं रूपग्रहणलिङ्गम्, नासाधिष्ठानं घ्राणम्, जिह्वाधिष्ठानं रसनम्, कर्णच्छिद्राधिष्ठानं श्रोत्रम्, गन्धरसरूपस्पर्शशब्दग्रहणलिङ्गत्वादिति।

गतिभेदादपीन्द्रियभेदः। कृष्णसारोपनिबद्धं चक्षुर्बहिर्निःसृतं रूपाधिकरणानि द्रव्याणि प्राप्नोति। स्पर्शनादीनि त्विन्द्रियाणि विषया एवाश्रयोपसर्पणात् प्रत्यासीदन्ति। सन्तानवृत्त्या शब्दस्य श्रोत्रप्रत्यासत्तिरिति।

गन्धादि विजातीय गुणविशेष का ज्ञान असमान साधनों द्वारा साध्य होने से ग्राहकान्तर का अनुमान करा सकते हैं। अतः प्रयोजन समूहभेद के पाँच प्रकार के होने से इन्द्रियाँ भी पाँच ही हैं ॥५८॥

यदि जाति ही संग्राहिका है तो इन्द्रियों का—

विषयत्वाभेद से एकत्व उपपन्न होने लगेगा ? ॥५९॥

विषयत्वसामान्य से गन्धादि का संग्रह होने से एक ही इन्द्रिय में सबका संग्रह हो जायगा ? ॥५९॥

नहीं; बुद्धि, लक्षण, अधिष्ठान, गति, आकृति—इन से (वे गन्धादि संगृहीत होते) ॥६०॥

विषयत्वसामान्य से व्यवस्थित विषय ग्राहकान्तरनिरपेक्ष होते हुए एकेन्द्रियग्राह्यत्वेन अनुमित नहीं होते। गन्धादि पाँच गन्धत्वादि स्वसामान्य से व्यवस्थित होकर इन्द्रियान्तरग्राह्य हैं। अतः यह इन्द्रिय का एकत्व असम्बद्ध है।

इसी बात को इस सूत्र में बुद्धिलक्षणपञ्चत्व से स्पष्ट कर रहे हैं। तद्बुद्धियाँ ही इन्द्रियत्वसाधक विषयग्रहण के पाँच भेद होने से उनके पञ्चत्व के लक्षण हैं। यह बात हमने ऊपर 'इन्द्रियार्थों के पाँच होने से' (३.१.५६) सूत्र में स्पष्ट कर दी है। अतः बुद्धिलक्षण पाँच होने से इन्द्रियाँ भी पाँच हैं।

पाँचों इन्द्रियों के अधिष्ठान भी पाँच ही हैं। सम्पूर्ण शरीर का आश्रय लेनेवाली स्पर्शेन्द्रिय स्पर्शज्ञान का हेतु है। कनीनिका का आश्रय लिये हुए चक्षुरिन्द्रिय बहिर्निःसृत रूपज्ञान का हेतु है। घ्राणेन्द्रिय नासाधिष्ठानवाली है, रसनेन्द्रिय जिह्वाधिष्ठानवाली है, श्रोत्रेन्द्रिय कर्णच्छिद्राधिष्ठानवाली है। इस प्रकार ये सभी पाँच विजातीय क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द ज्ञान की हेतु हैं।

गतिभेद से भी इन्द्रियभेद सिद्ध होता है। कनीनिका से संयुक्त चक्षु बाहर निकल, रूपाश्रय

आकृतिः खलु परिमाणम्, इयत्ता। सा पञ्चधा—स्वस्थानमात्राणि घ्राणरसनस्पर्शनानि विषयग्रहणेनानुमेयानि; चक्षुः कृष्णसाराश्रयं बहिर्निःसृतं विषयव्यापि; श्रोत्रं नान्यदाकाशात्, तच्च विभु शब्दमात्रानुभवानुमेयं पुरुषसंस्कारोपग्रहाच्चाधिष्ठाननियमेन शब्दस्य व्यञ्जकमिति।

जातिरिति योनिं प्रचक्षते। पञ्च खल्विन्द्रिययोनयः—पृथिव्यादीनि भूतानि, तस्मात् प्रकृतिपञ्चत्वादपि पञ्चेन्द्रियाणीति सिद्धम् ॥६०॥

कथं पुनर्ज्ञायते- भूतप्रकृतीनीन्द्रियाणि, नाव्यक्तप्रकृतीनीति ?

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥६१॥

दृष्टो हि वाय्वादीनां भूतानां गुणविशेषाभिव्यक्तिनियमः। वायुः स्पर्शव्यञ्जकः, आपो रसव्यञ्जिकाः, तेजो रूपव्यञ्जकम्, पार्थिवं किञ्चिद् द्रव्यं कस्यचिद् द्रव्यस्य गन्धव्यञ्जकम्। अस्ति चायमिन्द्रियाणां भूतगुणविशेषोपलब्धिनियमः, तेन भूतगुणविशेषोपलब्धेर्मन्यामहे—भूतप्रकृतीनीन्द्रियाणि, नाव्यक्तप्रकृतीनीति ॥६१॥

अर्थपरीक्षाप्रकरणम् [६२-७४]

'गन्धादयः पृथिव्यादिगुणाः' (१.१.१४) इत्युद्दिष्टम्, उद्देशश्च पृथिव्यादीनामेकगुणत्वे चानेकगुणत्वे समानम्, इत्यत आह—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः ॥६२॥

द्रव्य तक पहुँचती है। स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषय ही उन इन्द्रियों के पास पहुँच जाते हैं। सन्तानवृत्ति से शब्द श्रोत्र के पास पहुँचता है।

आकृति कहते हैं—परिमाण को, इयत्ता को। यह आकृति पाँच प्रकार की है। घ्राण, रसन, स्पर्श-नेन्द्रियाँ स्वस्थानमात्र पर्याप्त हैं, तथा स्व स्व विषय के ग्रहण से अनुमित होती हैं। चक्षु कनीनिकाधिष्ठित हो, बाहर निकल कर विषय को व्याप्त करती है, श्रोत्रेन्द्रिय आकाश से भिन्न नहीं है, वह आकाश नित्य है, शब्दमात्र के अनुभव से अनुमेय है, पुरुषों के दृष्टादृष्टजन्य संस्कारविशेष सम्बन्ध अथवा संस्कारवश से वह अधिष्ठान होकर शब्द का व्यञ्जक है। इस प्रकार आकृति से भी ये इन्द्रियाँ सिद्ध होती हैं।

जाति कहते हैं योनि (प्रकृति, कारणविशेष) को। पृथ्वी आदि पाँच भूत पाँचों इन्द्रियों की योनि हैं। अतः पृथक् पृथक् पाँच प्रकृति होने से भी ये इन्द्रियाँ पाँच हैं ॥६०॥

यह कैसे ज्ञात होता है कि इन्द्रियाँ भूतप्रकृतिक हैं, अव्यक्तप्रकृतिक नहीं ?

प्रत्येक भूत की गुणविशेषोपलब्धि से उनके साथ तादात्म्य ज्ञात होता है ॥६१॥

वायु आदि भूतों का गुणविशेषाभिव्यक्तिनियम लोक में देखा गया है। वायु स्पर्शव्यञ्जक है, जल रसव्यञ्जक है, तेज रूपव्यञ्जक है, कोई पार्थिवद्रव्य उसी द्रव्य की गन्ध का व्यञ्जक है। यह इन्द्रियों का भूतगुणविशेषोपलब्धिनियम है, इस भूतगुणविशेषोपलब्धि से हम जान लेते हैं कि इन्द्रियाँ भूतप्रकृतिक हैं, अव्यक्तप्रकृतिक नहीं ॥६१॥

अर्थपरीक्षा— पीछे हम नामसङ्कीर्तनरूप से कह आये हैं कि 'पृथिव्यादि भूतों के गन्धादि विषय हैं' (१.१.१४), यह नामसङ्कीर्तन पृथ्व्यादि के एक गुण या अनेक गुण होने पर भी समान ही है—ऐसा संशय होने पर, कहते हैं—

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्दों में स्पर्शपर्यन्त पृथ्वी के विषय हैं ॥६२॥

अप्तेजोवायूनां पूर्वपूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥ ६३ ॥

स्पर्शपर्यन्तानामिति विभक्तिविपरिणामः। आकाशस्योत्तरः शब्दः स्पर्शपर्यन्तेभ्य इति। कथं तर्हि तरन्निर्देशः? स्वतन्त्रविनियोगसामर्थ्यात्। तेनोत्तरशब्दस्य परार्थाभिधानं विज्ञायते। उद्देशसूत्रे हि स्पर्शपर्यन्तेभ्यः परः शब्द इति। तन्त्रं वा, स्पर्शस्य विवक्षितत्वात्। स्पर्शपर्यन्तेषु नियुक्तेषु योऽन्यस्तदुत्तरः शब्द इति॥ ६२-६३॥

न; सर्वगुणानुपलब्धेः ॥ ६४॥

नायं गुणनियोगः साधुः। कस्मात्? यस्य भूतस्य ये गुणा न ते तदात्मकेनेन्द्रियेण सर्वे उपलभ्यन्ते। पार्थिवेन हि घ्राणेन स्पर्शपर्यन्ता न गृह्यन्ते, गन्ध एव एको गृह्यते। एवं शेषेष्वपीति॥ ६४॥

कथं तर्हीमे गुणा विनियोक्तव्या इति?

एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तराणां तदनुपलब्धिः?॥ ६५॥

गन्धादीनामेकैको यथाक्रमं पृथिव्यादीनामेकैकस्य गुणः, अतस्तदनुपलब्धिः। तेषां तयोः तस्य चानुपलब्धिः—घ्राणेन रसरूपस्पर्शानाम्, रसनेन रूपस्पर्शयोः, चक्षुषा स्पर्शस्येति?

कथं तर्ह्यनेकगुणानि भूतानि गृह्यन्त इति?

इन में से पूर्व का एक एक छोड़ कर जल, तेज, वायु के विषय हैं, आकाश का केवल अन्तिम (शब्द) विषय है॥ ६३॥

'स्पर्शपर्यन्त' शब्द में विभक्तिविपरिणाम करके 'स्पर्शपर्यन्त गुणों से उत्तर'—ऐसा अर्थ समझना चाहिये। 'उत्तर' यह तरप्प्रत्यय से निर्देश क्यों किया? क्योंकि सूत्रकार में शब्दों के स्व तन्त्रानुसार विनियोग (प्रयोग) की सामर्थ्य रहती है। इस तरन्निर्देश से उत्तर शब्द पर अर्थ को बतलाता है—ऐसा विज्ञात होता है। उद्देशसूत्र में कथित स्पर्शपर्यन्तों से पर शब्द ऐसी व्यवस्था है। या उत्तर शब्द में, स्पर्श विवक्षित होने से, तन्त्र समझना चाहिये—'स्पर्शपर्यन्तों के विषय में निर्धारण कर देने के बाद अवशिष्ट बचा उस स्पर्श से आगे का शब्द'—ऐसा अर्थ समझना चाहिये॥ ६२-६३॥

शङ्का—

एक भूत में अनेक गुण नहीं है; क्योंकि सब गुणों की उपलब्धि नहीं हो पाती?॥ ६४॥

आप का यह गुणयोग उचित नहीं है, क्योंकि जिस भूत के ये गुण नहीं हैं, वे सब तदात्मक इन्द्रिय से उपलब्ध नहीं हो पाते। पार्थिव घ्राणेन्द्रिय से स्पर्शपर्यन्त सभी विषय गृहीत नहीं हो पाते; अपितु एक गन्ध विषय ही गृहीत हो पाता है। घ्राणपृथ्वी में सभी गुणों के रहने से सब का उससे ग्रहण होना चाहिये। इसी तरह अवशिष्ट के विषय में भी समझ लें?॥ ६४॥

अतः इन गुणों का विनियोग कैसे समझा जाय?

एकैकक्रम से उत्तरोत्तर (रसादि के) गुण होने से उत्तरोत्तर (अबादि) के गुणों (रसादि) की उपलब्धि नहीं होती?॥ ६५॥

गन्धादि गुणों में से एक एक क्रमशः पृथ्वी आदि में पूर्व पूर्व में उत्तरोत्तर का सम्बन्ध रहने पर भी गुण यथाक्रम पृथिव्यादि एक एक महाभूत का है, अतः उन अतिरिक्त—तीन, दो, या एक की उपलब्धि नहीं हो पाती। जैसे घ्राण से रस-रूप-स्पर्श की, रसन से रूप-स्पर्श की, चक्षु से स्पर्श की उपलब्धि नहीं हो पाती?

सिद्धान्ती— अनेक गुणवाले भूतों का ग्रहण कैसे होता है?

संसर्गाच्चनेकगुणग्रहणम्। अबादिसंसर्गाच्च पृथिव्यां रसादयो गृह्यन्ते। एवं शेषेष्वपीति?॥ ६५॥

नियमस्तर्हि न प्राप्नोति, संसर्गस्यानियमाच्चतुर्गुणा पृथिवी, त्रिगुणा आपः, द्विगुणं तेजः, एकगुणो वायुरिति?

नियमश्चोपपद्यते, कथम्?

विष्टं ह्यपरं परेण?॥ ६६॥

पृथिव्यादीनां पूर्वपूर्वमुत्तरेणोत्तरेण विष्टम्, अतः संसर्गान्नियम इति। तच्चैतद् भूतसृष्टौ वेदितव्यम्, नैतर्हीति?॥ ६६॥

न; पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात्॥ ६७॥

नेति त्रिसूत्रीं प्रत्याचष्टे। कस्मात्? पार्थिवस्य द्रव्यस्याप्यस्य च प्रत्यक्षत्वात्। 'महत्त्वानेकद्रव्यत्वाद्रूपाच्चोपलब्धिः' (वै. सू. ४.१.६) इति तैजसमेव द्रव्यं प्रत्यक्षं स्यात्, न पार्थिवमाप्यं वा; रूपाभावात्। तैजसवत्तु पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् न संसर्गादनेकगुणग्रहणं भूतानामिति। भूतान्तररूपकृतं च पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वं ब्रुवतः प्रत्यक्षो वायुः प्रसज्यते, नियमे वा कारणमुच्यतामिति।

रसयोर्वा पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात्। पार्थिवो रसः षड्विधः, आप्यो मधुर एव, न चैतत् संसर्गाद्भवितुमर्हति।

पूर्वपक्षी—सम्बन्ध से अनेक गुणों का ग्रहण हो जायगा। जलादि के सम्बन्ध से पृथ्वी में रसादि गृहीत हो जाते हैं। इसी तरह अवशिष्ट के विषय में भी समझ लेना चाहिये॥ ६५॥

सिद्धान्ती—तब तो एक एक वाला नियम बन नहीं पायगा जलादि संसर्ग का नियम न होने से यह कैसे बनेगा कि पृथ्वी में चार गुण (विषय) होते हैं, जल में तीन गुण होते हैं, तेज में दो गुण होते हैं, वायु में एक गुण होता है?

पूर्वपक्षी—नियम भी उपपन्न हो सकता है। कैसे?

पृथिव्यादि अबादि से सम्बद्ध है?॥ ६६॥

पृथिवी-आदि में पहला पहला भूत, अपने उत्तर भूत से सम्बद्ध है। अतः सम्बन्ध से नियम बन सकता है। यह नियम विषयभूतसृष्ट्यादि के प्रतिपादक पुराणादि ग्रन्थों में स्पष्ट प्रतिपादित है, भले ही आज हम लोगों के ध्यान में न आवें?॥ ६६॥

इस मत का नैयायिक प्रत्याख्यान करते हैं—

पार्थिव और आप्य द्रव्य के प्रत्यक्ष होने से (एकगुणवान् नहीं हैं)॥ ६७॥

'न' इस पद से सूत्रकार पूर्वोक्त त्रिसूत्री से प्रतिपादित विषय का प्रत्याख्यान करते हैं। कैसे? पार्थिव और आप्य द्रव्य के प्रत्यक्ष होने से। तब तो महत्त्व से, अनेक द्रव्याश्रित होने से, और रूपवान् होने से उसी की उपलब्धि होती है, यों तैजस द्रव्य का तो प्रत्यक्ष हो जायगा, परन्तु रूपवान् न होने से पार्थिव और आप्य द्रव्य का प्रत्यक्ष न हो सकेगा। तेज के सदृश ही पृथ्वी जल का प्रत्यक्ष होने से इतर संसर्गप्रयुक्त उनका प्रत्यक्ष मानना उचित नहीं है। तब आप का यह सिद्धान्त कहाँ रह जायगा कि सम्बन्ध से भूतों में अनेक विषयों का ग्रहण हो जाता है। यदि उक्त पार्थिव या आप्य द्रव्य के प्रत्यक्ष को भूतान्तररूपजन्य मानोगे तो इस नय से वायु का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। यदि कोई इसके लिये प्रतिबन्धकनियम बनाते हो तो उसमें कोई हेतु बताना चाहिये।

रूपयोर्वा पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् तैजसरूपानुगृहीतयोः। संसर्गे हि व्यञ्जकमेव रूपं न व्यङ्ग्यमस्तीति। एकानेकविधत्वे च पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वाद् रूपयोः। पार्थिवं हरितलोहितपीताद्यनेकविधं रूपम्, आप्यं तु शुक्लमप्रकाशकम्। न चैतदेकगुणानां संसर्गे सत्युपलभ्यते इति। उदाहरणमात्रं चैतत्। अतः परं प्रपञ्चः।

स्पर्शयोर्वा पार्थिवतैजसयोः प्रत्यक्षत्वात्। पार्थिवोऽनुष्णाशीतः स्पर्श उष्णस्तैजसः प्रत्यक्षः, न चैतदेकगुणानामनुष्णाशीतस्पर्शेन वायुना संसर्गेणोपपद्यत इति।

अथ वा—पार्थिवाप्ययोर्द्रव्ययोर्व्यवस्थितगुणयोः प्रत्यक्षत्वात्। चतुर्गुणं पार्थिवं द्रव्यम्, त्रिगुणमाप्यं प्रत्यक्षम्, तेन तत्कारणमनुमीयते तथाभूतमिति। तस्य कार्यं लिङ्गम्—कारणाभावाद्धि कार्याभाव इति। एवं तैजसवायव्ययोर्द्रव्ययोः प्रत्यक्षत्वाद् गुणव्यवस्थायाः तत्कारणे द्रव्ये व्यवस्थानुमानमिति।

दृष्टश्च विवेकः—पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात्। पार्थिवं द्रव्यमबादिभिर्वियुक्तं प्रत्यक्षतो गृह्यते, आप्यं च पराभ्याम्, तैजसं च वायुना, न चैकैकगुणं गृह्यत इति। निरनुमानं तु 'विष्टं ह्यपरं परेण' (३.१.६६) इत्येतदिति, नात्र लिङ्गमनुमापकं गृह्यत इति येनैतदेवं प्रतिपद्येमहि।

यच्चोक्तम्-'विष्टं ह्यपरं परेणेति भूतसृष्टौ वेदितव्यं न साम्प्रतम्' इति? नियम-

---

अथवा—'पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात्' का व्याख्यान 'रस' तथा 'रूप' आदि का अध्याहार करके यों करना चाहिये—पार्थिव तथा आप्य रस के प्रत्यक्ष होने से। पार्थिव रस छह प्रकार का है, जब कि आप्य रस मधुर ही होता है, यह सम्बन्ध से नहीं बन सकता।

अथवा—तैजस रूप से अनुगृहीत पार्थिव तथा आप्य रूप का प्रत्यक्ष होने से। तैजस सम्बन्ध मानने पर रूप व्यञ्जक ही होगा, व्यङ्ग्य नहीं। पार्थिव तथा आप्य रूपों का अनेक तथा एक प्रकार भेद से प्रत्यक्ष होने से भी उसका प्रत्यक्ष संसर्गप्रयुक्त नहीं है। पार्थिव रूप हरा, लाल, पीला आदि अनेक प्रकार का है, जब कि आप्य रूप एक अप्रकाशक शुक्ल ही होता है। यह बात गुणान्तर का सम्बन्ध मानने पर कैसे बनती! यह उदाहरणमात्र दिखा दिया है। आगे इसी बात को विस्तार से समझा रहे हैं।

अथवा—पार्थिव तथा तैजस स्पर्श के प्रत्यक्ष होने से। पार्थिव स्पर्श अनुष्णाशीत है, जब कि तैजस स्पर्श उष्ण प्रत्यक्ष होता है। यह बात एक गुणवाले अन्य द्रव्यों का अनुष्णाशीतस्पर्श वाली वायु के साथ सम्बन्ध मानने पर कैसे बनेगी!

अथवा—व्यवस्थित गुणवाले पार्थिव तथा आप्य द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने से। पार्थिव द्रव्य चतुर्गुण प्रसिद्ध है, जब कि आप्य द्रव्य त्रिगुण ही, इस व्यवस्थित गुणकार्य से व्यवस्थितगुण वाले कारण का अनुमान करते हैं। इस अनुमान का हेतु वह कार्य ही है, क्योंकि कारण न होने से ही कार्य नहीं होता है। इसी प्रकार, तैजस तथा वायव्य द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने के कारण गुणव्यवस्था से कार्यव्यवस्था का अनुमान होता है।

पार्थिव और आप्य पृथक्-पृथक् देखा गया है। पार्थिव द्रव्य का प्रत्यक्ष जलादि से रहित होने पर भी होता है, इसी तरह जलीय द्रव्य तेज तथा वायु से रहित भी प्रत्यक्ष से गृहीत होता है, और तैजस द्रव्य वायु से रहित स्वतन्त्रतया प्रत्यक्ष से गृहीत होता है। उस समय ये एक एक गुण वाले गृहीत नहीं होते। आप का यह कहना तो निरनुमान ही है कि 'पृथिव्यादि अबादि से व्याप्त है' (३.१.६६)। क्योंकि यहाँ हमें ऐसा कोई अनुमापक हेतु नहीं मिलता, जिससे आप की बात से हम सहमत हो सकें।

कारणाभावादयुक्तम्[१]। दृष्टं च साम्प्रतमपरं परेण विष्टमिति वायुना च विष्टं तेज इति। विष्टत्वं संयोगः, स च द्वयोः समानः वायुना च विष्टत्वात् स्पर्शवत्तेजः, न तु तेजसा विष्टत्वाद् रूपवान् वायुरिति नियमकारणं नास्तीति। दृष्टं च तैजसेन स्पर्शेन वायव्यस्य स्पर्शस्याभिभवादग्रहणमिति, न च तेनैव तस्याभिभव इति॥ ६७॥

तदेवं न्यायविरुद्धं प्रवादं प्रतिषिध्य 'न; सर्वगुणानुपलब्धेः' (३.१.६४) इति चोदितं समाधीयते—

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात् तत्तत्प्रधानम्॥ ६८॥

तस्मान्न सर्वगुणोपलब्धिः। घ्राणादीनां पूर्वं पूर्वं गन्धादेर्गुणस्योत्कर्षात्तत्तत् प्रधानम्। का प्रधानता? विषयग्राहकत्वम्। को गुणोत्कर्षः? अभिव्यक्तौ समर्थत्वम्। यथा बाह्यानां पार्थिवाप्यतैजसानां द्रव्याणां चतुर्गुणत्रिगुणद्विगुणानां न सर्वगुणव्यञ्जकत्वम्, गन्धरसरूपोत्कर्षात्तु यथाक्रमं गन्धरसरूपव्यञ्जकत्वम्। एवं घ्राणरसनचक्षुषां चतुर्गुणत्रिगुणद्विगुणानां न सर्वगुणग्राहकत्वम्, गन्धरसरूपोत्कर्षात्तु यथाक्रमं गन्धरसरूपग्राहकत्वम्। तस्माद् घ्राणादिभिर्न सर्वेषां गुणानामुपलब्धिरिति।

यस्तु प्रतिजानीते-'गन्धगुणत्वाद् घ्राणं गन्धस्य ग्राहकमेवं रसनादिष्वपि' इति? तस्य यथागुणयोगं घ्राणादिभिर्गुणग्रहणं प्रसज्यत इति॥ ६८॥

तथा आप का यह कहना भी अयुक्त ही है कि 'पृथिव्यादि अबादि से व्याप्त हैं, यह बात भूतसृष्टिप्रतिपादक पुराणों में प्रतिपादित है, भले ही आज कल हम लोगों के ध्यान में न आवे'; क्योंकि यहाँ भी आपने कोई नियमहेतु नहीं दिखाया। आज भी हम अपर (तेज) को दूसरे (वायु) से विष्ट (संयुक्त) देखते हैं, जैसे—तेज वायु से संयुक्त है। विष्टत्व का अर्थ है 'संयोग'। वह तो दोनों का समान ही है। तथा वायु से संयुक्त होने से तेज स्पर्शवान् है, परन्तु तेज से संयुक्त होने पर भी वायु रूपवान् नहीं बनती—इसमें नियमहेतु नहीं है। यह भी हम देखते हैं कि तैजस उष्ण स्पर्श से वायव्य (अनुष्णाशीत) स्पर्श अभिभूत हो जाता है, परन्तु वायव्य स्पर्श से ही वायव्य स्पर्श का अभिभव हमें नहीं मिला॥ ६७॥

इस रीति से, न्यायविरुद्ध संवाद का खण्डन कर, पूर्वपक्षी 'सब गुणों की उपलब्धि न होने से नहीं' (३.१.६४) उक्ति का समाधान कर रहे हैं—

पूर्व पूर्व (गुण) के उत्कर्ष से वह वह प्रधान होता है॥ ६८॥

इसलिये सब गुणों की उपलब्धि नहीं हो पाती। घ्राणादि इन्द्रियों में पूर्व पूर्व गन्धादि गुण का उत्कर्ष होने से उस उस गुण से वह इन्द्रिय प्रधान है। यह प्रधानता है—'विषयग्राहकत्व'। तथा गुणोत्कर्ष है—'अभिव्यक्ति में सामर्थ्य'। जैसे क्रमशः चार गुणवाले, तीन गुणवाले, तथा दो गुणवाले बाह्य पार्थिव, आप्य, तैजस का सर्वगुणव्यञ्जकत्व नहीं होता; अपितु क्रमशः गन्ध, रस, रूप के उत्कर्ष से गन्ध, रस और रूप व्यञ्जक होता है। उसी प्रकार चार गुण, तीन गुण तथा दो गुण वाली घ्राण, रसन, तथा चक्षु इन्द्रियाँ भी सब विषयों की ग्राहक नहीं हैं, अपितु गन्ध, रस तथा रूप के उत्कर्ष से क्रमशः गन्ध, रस, तथा रूप की ही ग्राहक हैं। अतः घ्राणादि एक एक इन्द्रिय से सब विषयों की उपलब्धि नहीं होती।

---

१. नियमः 'गन्ध एव पृथिव्याम्' इत्येवमादिः, तस्य कारणं प्रमाणं नास्ति; तद्बाधकस्यैव प्रमाणस्योक्तत्वात्। तस्माद् भूतसृष्टिः कथञ्चिदुपचारतो व्याख्येयेति तात्पर्यटीकायां मिश्राः।

किंकृतं पुनर्व्यवस्थानम्-किञ्चित् पार्थिवमिन्द्रियं न सर्वाणि, कानिचिदाप्यतैजसवायव्यानि इन्द्रियाणि न सर्वाणीति ?

तद्व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात् ॥ ६९ ॥

अर्थनिर्वृत्तिसमर्थस्य प्रविभक्तस्य द्रव्यस्य संसर्गः पुरुषसंस्कारकारितः 'भूयस्त्वम्'। दृष्टो हि प्रकर्षे भूयस्त्वशब्दः, प्रकृष्टो यथा विषयो भूयानित्युच्यते। यथा पृथगर्थक्रियासमर्थानि पुरुषसंस्कारवशाद्विषौषधिमणिप्रभृतीनि द्रव्याणि निर्वर्त्यन्ते, न सर्वं सर्वार्थम्; एवं पृथग्विषयग्रहणसमर्थानि घ्राणादीनि निर्वर्त्यन्ते, न सर्वविषयग्रहणसमर्थानीति ॥ ६९ ॥

स्वगुणान्नोपलभन्ते इन्द्रियाणि। कस्मादिति चेत् ?

सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥ ७० ॥

स्वान् गन्धादीन्नोपलभन्ते घ्राणादीनि। केन कारणेनेति चेत् ? स्वगुणैः सह घ्राणादीनामिन्द्रियभावात्। घ्राणं स्वेन गन्धेन समानार्थकारिणा सह बाह्यं गन्धं गृह्णाति, तस्य स्वगन्धग्रहणं सहकारिवैकल्यान्न भवति। एवं शेषाणामपि ॥ ७० ॥

यदि पुनर्गन्धः सहकारी च स्याद्, घ्राणस्य ग्राह्यश्च ? इत्यत आह—

तेनैव तस्याग्रहणाच्च ॥ ७१ ॥

न गुणोपलब्धिरिन्द्रियाणाम्। यो ब्रूते-यथा बाह्यं द्रव्यं चक्षुषा गृह्यते तथा तेनैव चक्षुषा तदेव चक्षुर्गृह्यतामिति, तादृगिदम्; तुल्यो ह्युभयत्र प्रतिपत्तिहेत्वभाव इति ॥ ७१ ॥

जो यह प्रतिज्ञा करता है कि—'गन्ध गुण होने से घ्राणेन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करती है', इसी तरह रसनेन्द्रिय के विषय में प्रतिज्ञा करता है, उसको यथागुणसम्बन्ध से तत्तद्विषय का ग्रहण प्रसक्त होता है; हमारे मत में नहीं ॥ ६८ ॥

यह व्यवस्था कैसे बन गयी कि कोई इन्द्रिय ही पार्थिव है सब इन्द्रियाँ नहीं, या कोई इन्द्रिय ही आप्य है, कोई इन्द्रिय ही तैजस है, कोई इन्द्रिय ही वायव्य है, सब नहीं ?

उस द्रव्य का भूयस्त्व (प्रकृष्टत्व) होने से ऐसी व्यवस्था बन जाती हैं ॥ ६९ ॥

पुरुष के कर्मविशेष से किया गया, कार्योत्पत्ति में समर्थ, प्रविभक्त द्रव्य के संसर्ग को 'भूयस्त्व' कहते हैं। प्रकर्ष अर्थ में 'भूयस्त्व' का प्रयोग देखा जाता है, जैसे—प्रकृष्ट विषय को 'भूयान्' कह देते हैं। यथा—पुरुषसंस्कारवश से विषौषधि, मणि आदि द्रव्य पृथक् पृथक् क्रिया करने में समर्थ उत्पन्न होते हैं। अतएव सब द्रव्य सभी क्रिया नहीं कर सकते। इसी प्रकार, पृथक् पृथक् विषय को ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, न कि सब विषयों को ग्रहण करने में समर्थ ॥ ६९ ॥

शङ्का—इन्द्रियाँ स्वगुणों को उपलब्ध नहीं करतीं; क्योंकि

उनका इन्द्रियत्व स्वविषयसहित होता है ॥ ७० ॥

घ्राणादि इन्द्रियाँ स्वविषय गन्धादि को ग्रहण नहीं करतीं; क्योंकि स्वविषयों के साथ मिलकर घ्राणादिकों में 'इन्द्रियत्व' आता है। घ्राण अपने समानार्थकारी गन्ध के साथ होकर बाह्य गन्ध को ग्रहण करता है। उसका स्वगन्धग्रहण सहकारिकारण के असम्बन्ध से नहीं बनता। इसी तरह अन्य इन्द्रियों के विषय में भी समझना चाहिये ॥ ७० ॥

इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि यदि गन्ध को सहकारी भी मान लें और घ्राणेन्द्रिय का ग्राह्य भी मान लें ?

न; शब्दगुणोपलब्धेः ? ॥ ७२ ॥

स्वगुणान्नोपलभन्त इन्द्रियाणीति एतन्न भवति। उपलभ्यते हि स्वगुणः शब्दः श्रोत्रेणेति ? ॥ ७२ ॥

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥ ७३ ॥

न शब्देन गुणेन सगुणमाकाशमिन्द्रियं भवति, न शब्दः शब्दस्य व्यञ्जकः। न च घ्राणादीनां स्वगुणग्रहणं प्रत्यक्षम्, नाप्यनुमीयते। अनुमीयते तु श्रोत्रेणाकाशेन शब्दस्य ग्रहणम्, शब्दगुणत्वं च आकाशस्येति। परिशेषश्चानुमानं वेदितव्यम्। आत्मा तावत् श्रोता न करणम्, मनसः श्रोत्रत्वे बधिरत्वाभावः, पृथिव्यादीनां घ्राणादिभावे सामर्थ्यं श्रोत्रभावे चासामर्थ्यम्। अस्ति चेदं श्रोत्रम्, आकाशं च शिष्यते। परिशेषादाकाशं श्रोत्रमिति[1] ॥ ७३ ॥

॥ इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये तृतीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ॥

●

उसी से उसका ग्रहण न होने से ॥ ७१ ॥

इन्द्रियों से स्वगुणोपलब्धि नहीं होती, क्योंकि जैसे कोई कहे—'यथा बाह्य द्रव्य चक्षु से गृहीत होता है उसी तरह उसी चक्षु से वह चक्षु गृहीत हो जायगी', ऐसी ही बात यह हुई। तात्पर्य कहने का यह है कि दोनों ही जगह ज्ञान के हेतु का अभाव समान है ॥ ७१ ॥

ऐसा नहीं; क्योंकि शब्द गुण श्रोत्र से उपलब्ध होता है ? ॥ ७२ ॥

'इन्द्रियाँ अपने गुणों को उपलब्ध नहीं करतीं'—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा स्वगुण शब्द गृहीत होता देखा जाता है ? ॥ ७२ ॥

इतरेतर द्रव्य के गुणवैधर्म्य से उसकी उपलब्धि होती है ॥ ७३ ॥

शब्द गुण से सगुण होकर आकाश इन्द्रिय (शब्दाभिन्न गुणसहित) नहीं हैं; क्योंकि शब्द शब्द का व्यञ्जक नहीं होता। घ्राणादि का भी स्वगुण प्रत्यक्ष नहीं होता, और न उनका अनुमान होता है। श्रोत्ररूप आकाश से शब्दग्रहण का अनुमान अवश्य होता है, और तब यह भी अनुमान होता है कि शब्द आकाश का गुण है। यहाँ कौन सा अनुमान है ? परिशेष अनुमान समझना चाहिये। अनुमानप्रकार दिखाते हैं—'आत्मा श्रोता है, श्रोत्र नहीं; मन को श्रोत्र मानने पर विश्व में कहीं बहरापन रह ही न जायगा; पृथिव्यादि में घ्राणादि इन्द्रियों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है, श्रोत्रेन्द्रिय को उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं। यह श्रोत्र फिर है अवश्य; अतः अवशिष्ट रहने से भाव मानने पर परिशेषात् अनुमान होता है कि आकाश ही श्रोत्र हैं ॥ ७३ ॥

वात्स्यायनकृत न्यायभाष्य (सहित न्यायदर्शन) के तृतीय अध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त ॥

●

---

१. अत्रत्यं वार्त्तिकं मनुनीयं जिज्ञासुभिः।

[अथ द्वितीयमाह्निकम्]

बुद्धेरनित्यत्वपरीक्षाप्रकरणम् [१-९]

परीक्षितानीन्द्रियाणि अर्थाश्च। बुद्धेरिदानीं परीक्षाक्रमः—सा किमनित्या ? नित्या वेति ? कुतः संशयः ?

कर्माकाशसाधर्म्यात् संशयः ॥ १ ॥

अस्पर्शवत्त्वं ताभ्यां समानो धर्म उपलभ्यते बुद्धौ, विशेषश्चोपजनापायधर्मवत्त्वं विपर्ययश्च यथास्वमनित्यनित्ययोस्तस्यां बुद्धौ नोपलभ्यते, तेन संशय इति ॥ १ ॥

अनुपपन्नः खल्वयं संशयः। सर्वशरीरिणां हि प्रत्यात्मवेदनीया अनित्या बुद्धिः सुखादिवत्। भवति च संवित्तिः-ज्ञास्यामि, जानामि, अज्ञासिषमिति; न चोपजनापायावन्तरेण त्रैकाल्यव्यक्तिः, ततश्च त्रैकाल्यव्यक्तेरनित्या बुद्धिरित्येतत्सिद्धम्। प्रमाणसिद्धं चेदं शास्त्रेऽप्युक्तम्-'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्', 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' इत्येवमादि, तस्मात् संशयप्रक्रियानुपपत्तिरिति ?

दृष्टिप्रवादोपालम्भार्थं तु प्रकरणम्।

एवं हि पश्यन्तः प्रवदन्ति सांख्याः-पुरुषस्यान्तःकरणभूता नित्या बुद्धिरिति। साधनं च प्रचक्षते—

विषयप्रत्यभिज्ञानात् ॥ २ ॥

किं पुनरिदं प्रत्यभिज्ञानम् ? 'यं पूर्वमज्ञासिषमर्थं तमिमं जानामि' इति ज्ञानयोः समानेऽर्थे प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। एतच्चावस्थिताया बुद्धेरुपपन्नम्। नानात्वे तु बुद्धिभेदेषूत्पन्नापवर्गिषु प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तिः; नान्यज्ञातमन्यः प्रत्यभिजानातीति ॥ २ ॥

साध्यसमत्वादहेतुः ॥ ३ ॥

यथा खलु नित्यत्वं बुद्धेः साध्यम्, एवं प्रत्यभिज्ञानमपीति। किं कारणम् ? चेतनधर्मस्य करणेऽनुपपत्तिः। पुरुषधर्मः खल्वयम्—ज्ञानं दर्शनमुपलब्धिर्बोधः प्रत्ययोऽध्यवसाय इति। चेतनो हि पूर्वज्ञातमर्थं प्रत्यभिजानाति, तस्यैतस्माद् हेतोर्नित्यत्वं युक्तमिति। करणचैतन्याभ्युपगमे तु चेतनस्वरूपं वचनीयं नानिर्दिष्टस्वरूपमात्मान्तरं शक्यमस्तीति प्रतिपत्तुम्। ज्ञानं चेद् बुद्धेरन्तःकरणस्याभ्युपगम्यते, चेतनस्येदानीं किं स्वरूपम्, को धर्मः, किं तत्त्वम् ? ज्ञानेन च बुद्धौ वर्तमानेनायं चेतनः किं करोतीति ?

चेतयते इति चेत् ? न ज्ञानादर्थान्तरवचनम्। पुरुषश्चेतयते बुद्धिर्जानातीति नेदं ज्ञानादर्थान्तरमुच्यते। चेतयते, जानीते, बुध्यते, पश्यति, उपलभते-इत्येकोऽयमर्थ इति। बुद्धिर्ज्ञापयतीति चेत् ? अद्धा जानीते पुरुषो बुद्धिर्ज्ञापयतीति सत्यमेतत्। एवं चाभ्युपगमे ज्ञानं पुरुषस्येति सिद्धं भवति, न बुद्धेरन्तकरणस्येति।

प्रतिपुरुषं च शब्दान्तरव्यवस्थाप्रतिज्ञाने प्रतिषेधहेतुवचनम्। यश्च प्रतिजानीते-'कश्चित् पुरुषश्चेतयते, कश्चिद् बुध्यते, कश्चिदुपलभते, कश्चित् पश्यति' इति ? पुरुषान्तराणि खल्विमानि—चेतनो बोद्धोपलब्धा द्रष्टेति, नैकस्यैते धर्मा इति, अत्र कः प्रतिषेधहेतुरिति ?

[अथ द्वितीयमाह्निकम्]

इन्द्रिय तथा उनके विषयों की परीक्षा की जा चुकी। अब **बुद्धि की परीक्षा** आरम्भ करते हैं—वह बुद्धि नित्य है, या अनित्य ?

यह संशय क्यों हुआ ?

कर्म तथा आकाश के सादृश्य से यहाँ संशय हुआ ॥ १ ॥

कर्म तथा आकाश का अस्पर्शवत्त्व बुद्धि में भी समान रूप से मिलता है। इस बुद्धि में अनित्य के उत्पत्तिविनाशधर्मवत्त्व तथा नित्य के उत्पत्तिविनाशधर्माभाववत्त्व-दोनों ही नहीं मिलते, अतः संशय होता है ॥ १ ॥

शङ्का—यह संशय युक्त नहीं है; क्योंकि सभी प्राणियों को बुद्धि का अनित्यत्व प्रत्यात्मवेदनीय होने से सुखादि की तरह अनित्य ही है। जैसे—'जानूँगा', 'जानता हूँ', 'जानता था' यह त्रैकाल्ययुक्त संवेदन भी उत्पत्ति विनाश के विना कैसे होगा! अतः सिद्ध होता है कि बुद्धि द्वारा त्रैकाल्याभिव्यक्ति होने से बुद्धि अनित्य है। यह प्रमाणसिद्ध अनित्यता शास्त्र में पीछे कह आये हैं—'इन्द्रिय-अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान (बुद्धि') (१.१.४) तथा 'युगपज्ज्ञानानुत्पाद ही मन का हेतु है' (१.१.१६)। इन प्रमाणों से ज्ञान की अनित्यता स्पष्ट सिद्ध है। अतः संशय नहीं बनेगा ?

समाधान—साङ्ख्यमत के प्रौढिवाद का उपालम्भ (तिरस्कार) करने के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ किया गया है। साङ्ख्यमतानुयायी ऐसा मानते हैं—'पुरुष की मनोरूप बुद्धि अविनाशिनी है'। इसमें कारण बतलाते हैं—

विषय का प्रत्यभिज्ञान होने से ॥ २ ॥

यह प्रत्यभिज्ञान क्या है ? 'जिस अर्थ को मैं पहले जानता था, उसी अर्थ को अब जान रहा हूँ'—इस तरह दो ज्ञानों का समान अर्थ में प्रतिसन्धिज्ञान 'प्रत्यभिज्ञान' कहलाता है। यह अवस्थित (नित्य) बुद्धि में ही उपपन्न हो सकता है। उत्पन्नविनाशी नाना बुद्धिभेद मानने पर यह प्रत्यभिज्ञान नहीं बनेगा; क्योंकि अन्य द्वारा ज्ञात को अन्य कैसे स्मरण करेगा ! ॥ २ ॥

साङ्ख्यमत-निराकरण—

साध्यसम होने से यह (प्रत्यभिज्ञान) हेतु हेत्वाभास है ॥ ३ ॥

जैसे बुद्धि का नित्यत्व साध्य है, इसी तरह प्रत्यभिज्ञान भी साध्य है। कारण, चेतन धर्म का अन्तःकरण में सम्भव नहीं है। ये सब—ज्ञान, दर्शन, उपलब्धि, बोध, अध्यवसाय, प्रत्यय—पुरुषधर्म हैं ! चेतन ही पूर्व ज्ञात अर्थ का प्रत्यभिज्ञान करता है, अतः उस चेतन का नित्यत्व तो युक्त है; पर अन्तःकरण-धर्म को चैतन्य मानोगे तो उसका चेतनस्वरूप बताना पड़ेगा। अस्मदभिमत आत्मा से भिन्न अदर्शितलक्षणक अन्य चेतन का प्रतिपादन करना असम्भव है। बुद्धि या मन को ही यदि ज्ञान हो जाता है तो अब चेतन का क्या स्वरूप, धर्म या तत्त्व रह जायगा ? तथा ज्ञान का बुद्धि में ही सम्भव होने पर यह चेतन क्या करेगा ?

यदि 'चेतना को करता है'—यह कहो तो ज्ञान तथा चेतना तो पर्यायमात्र हैं। 'पुरुष चेतना देता है, बुद्धि ज्ञान करती है' यह ज्ञान से अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा रहा। 'चेतन देता है, जानता है, बोध करता है, देखता है, अवगत करता है'—ये सब पर्याय एक ही बात को बतलाते हैं। यदि यह कहो कि 'बुद्धि चेतन को जानती है' तो ठीक है, पुरुष जानता है, बुद्धि प्रेरणा देती है तो अन्त में यह ज्ञान किसमें सिद्ध हुआ ? पुरुष में, न कि आप के कथनानुसार मन या बुद्धि में !

प्रत्येक पुरुष में भिन्न-भिन्न शब्दों की व्यवस्था प्रतिज्ञात करोगे तो एक का दूसरे में प्रतिषेधहेतु बतलाना पड़ेगा। जो यह प्रतिज्ञा करता है कि कोई पुरुष चेतना करता है, कोई बोध करता है, कोई प्राप्त

अर्थस्याभेद[1] इति चेत्? समानम्।,अभिन्नार्था एते शब्दा इति तत्र व्यवस्थानुपपत्तिरित्येवं चेन्मन्यसे? समानं भवति। पुरुषश्चेतयते, बुद्धिर्जानीते इत्यत्राप्यर्थो न भिद्यते; तत्रोभयोश्चेतनत्वादन्यतरलोप इति। यदि पुनर्बुध्यतेऽनेनेति बोधनं बुद्धिर्मन एवोच्यते, तच्च नित्यम्? अस्त्येतदेवम्, न तु मनसो विषयप्रत्यभिज्ञानान्नित्यत्वम्। दृष्टं हि करणभेदे ज्ञातुरेकत्वात् प्रत्यभिज्ञानम्-'सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्' इति चक्षुर्वत् प्रदीपवच्च—प्रदीपान्तरदृष्टस्य प्रदीपान्तरेण प्रत्यभिज्ञानमिति। तस्माद् ज्ञातुरयं नित्यत्वे हेतुरिति॥ ३॥

यच्च मन्यते—बुद्धेरवस्थिताया यथाविषयं वृत्तयो ज्ञानानि निश्चरन्ति, वृत्तिश्च वृत्तिमतो नान्येति, तच्च

न; युगपदग्रहणात्॥ ४॥

वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वे वृत्तिमतोऽवस्थानाद् वृत्तीनामवस्थानमिति यानीमानि विषयग्रहणानि तान्यवतिष्ठन्त इति युगपद् विषयाणां ग्रहणं प्रसज्यत इति॥ ४॥

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः॥ ५॥

करता है, कोई देखता है तो उसके मत में ये सब भिन्न भिन्न पुरुष हैं—चेतन, बोद्धा, उपलब्धा, द्रष्टा आदि; एक ही पुरुष के ये सब धर्म नहीं हैं, यहाँ प्रतिषेधहेतु दिखाने की आवश्यकता है?

यदि यह कहो कि—'चेतयते' 'बुध्यते' इत्यादि का अर्थभेद होने के कारण, एक ही ज्ञाता के कर्ता होने पर उक्त प्रयोग की व्यवस्था उपपन्न नहीं होगी, अतः उस एक का ही सब के साथ सम्बन्ध उचित नहीं? तो यह बात आप के पक्ष में भी समान ही है, क्योंकि आप भी जब यह कहते हैं कि 'बुद्धि जानती है' तो बुद्धि तथा ज्ञान एक ही चीज है, तब उस का सम्बन्ध उसी में कैसे होगा? एक बात और! जब आप कहते हैं कि 'पुरुष चेतना देता है, बुद्धि जानती है' तो ये पुरुष और बुद्धि—दोनों ही चेतन हैं। अतः एक चेतन का आप के मत में विनाश मानना पड़ेगा।

यदि यह व्युत्पत्ति करोगे कि 'जिससे जाना जाय वह बुद्धि है' तो यह मन हो गया, और मन नित्य है? ठीक है, परन्तु विषयप्रत्यभिज्ञानसमवायिता के कारण वह नित्य नहीं है; क्योंकि लोक में करण (इन्द्रिय) का भेद होने पर भी एक ज्ञाता के देखे जाने से उसी को प्रत्यभिज्ञान होता है, जैसे—बायीं आँख से देखे गये का ही दाहिनी आँख से देखा जाने पर प्रत्यभिज्ञान होता है। अथवा—एक दीप से देखा जाने के बाद दूसरे दीप से वही चीज देखी जाने पर प्रत्यभिज्ञान होता है। अतः यह प्रत्यभिज्ञान ज्ञाता के नित्यत्व का साधक है, मन के नित्यत्व का नहीं॥ ३॥

जो यह मानता है कि—बुद्धि के स्थिर (नित्य) रहते हुए ही विषयानुसार वृत्तियाँ (ज्ञान) उसमें से निकलती रहती हैं; यह वृत्ति वृत्तिमान् से भिन्न नहीं है?

युगपद् ग्रहण न होने से ऐसा नहीं कह सकते॥ ४॥

यदि वृत्ति और वृत्तिमान्-दोनों का अभेद मानोगे तो वृत्तिमान् के स्थिर रहते वृत्तियाँ भी स्थिर रहेंगी, तब जितने भी विषयज्ञान होंगे वे सब स्थिर हो जायेंगे, फिर एक साथ सभी विषयों का ज्ञान प्रसक्त होने लगेगा॥ ४॥

[वृत्ति तथा वृत्तिमान् के अभेद में एक और दूषण दिखा रहे हैं—]

अप्रत्यभिज्ञान में विनाश-प्रसक्ति होने लगेगी॥ ५॥

---

1. अर्थस्य भेदः—इति पाठ०।

अतीते च प्रत्यभिज्ञाने वृत्तिमानप्यतीत इत्यन्तःकरणस्य विनाशः प्रसज्यते, विपर्यये च नानात्वमिति॥ ५॥

अविभु चैकं मनः पर्यायेणेन्द्रियैः सम्प्रयुज्यत इति—

क्रमवृत्तित्वादयुगपद् ग्रहणम्॥ ६॥

इन्द्रियार्थानाम्। वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वमिति। एकत्वे च प्रादुर्भावतिरोभावयोरभाव इति॥ ६॥

अप्रत्यभिज्ञानञ्च विषयान्तरव्यासङ्गात्॥ ७॥

अप्रत्यभिज्ञानम्=अनुपलब्धिः। अनुपलब्धिश्च कस्यचिदर्थस्य विषयान्तरव्यासक्ते मनस्युपपद्यते; वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वात्। एकत्वे हि अनर्थको व्यासङ्ग इति॥ ७॥

विभुत्वे चान्तःकरणस्य पर्यायेणेन्द्रियैः संयोगः—

न; गत्यभावात्॥ ८॥

प्राप्तानीन्द्रियाण्यन्तःकरणेनेति प्राप्त्यर्थस्य गमनस्याभावः तत्र क्रमवृत्तित्वाभावादयुगपद् ग्रहणानुपपतिरिति। गत्यभावाच्च प्रतिषिद्धं विभुनोऽन्तःकरणस्यायुगपद् ग्रहणं न लिङ्गान्तरेणानुमीयते इति। यथा चक्षुषो गतिः प्रतिषिद्धा सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोस्तुल्यकालग्रहणात् पाणिचन्द्रमसोर्व्यवधानेन प्रतीघाते सानुमीयत इति।

प्रत्यभिज्ञान के अतीत (समाप्त) होने पर वृत्तिमान् भी अतीत हो जायगा, तब अन्तःकरण का विनाश प्रसक्त होगा। वृत्ति का नाश होने पर भी प्रत्यभिज्ञान (अन्तःकरण) का अनाश—यों विपर्यय मानने पर मन का नानात्व प्रसङ्ग होने लगेगा॥ ५॥

एक ही विनाशी मन कालभेद से इन्द्रियों के साथ सम्प्रयुक्त होता है, अतएव

क्रमवृत्ति होने से युगपज्ज्ञान नहीं हो पाता॥ ६॥

इन्द्रियों के विषयों का। ज्ञान को अनेकता का कारण वृत्तिमान् का नानात्व मानना ही पड़ेगा; अन्यथा ज्ञान का प्रादुर्भाव तथा तिरोभाव कैसे होगा!॥ ६॥

[स्वमत में प्रत्यभिज्ञान का उपपादन करते हैं—]

मन के विषयान्तर में व्यासक्त होने से अप्रत्यभिज्ञान हो जाता है॥ ७॥

अप्रत्यभिज्ञान से तात्पर्य है—अनुपलब्धि। यह अनुपलब्धि मन के विषयान्तर में व्यासक्त होने पर होती है; क्योंकि हम वृत्ति तथा वृत्तिमान् को नाना मानते हैं। एक मानने वाले के मत में भले ही उसका विषय में व्यासङ्ग होना निरर्थक रहे!॥ ७॥

मन को विभु मानने पर कालभेद से इन्द्रियों के साथ संयोग—

गति न होने से नहीं (बनेगा)॥ ८॥

'इन्द्रिय अन्तःकरण से सम्बद्ध होती है'—यह सम्बन्धानुकूलव्यापारार्थक गमन मन को विभु मानने पर उसमें नहीं बनेगा। तथा उसे विभु मानने पर, उसके क्रमवृत्ति न होने से युगपज्ज्ञान होने लगेगा। यों, गत्यभाव से प्रतिषिद्ध मनःसाधक युगपज्ज्ञानानुत्पाद हेतु का लिङ्गान्तर से अनुमान नहीं हो सकता। एक ही समय में दूर एवं समीप में वर्तमान वस्तु का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, पर मध्य में हाथ का व्यवधान होने पर प्रतीघात हो जाने से चन्द्रपर्यन्त से चक्षु की गति अवरुद्ध होने का अनुमान होता है।

सोऽयं नान्तःकरणे विवादः, न तस्य नित्यत्वे। सिद्धं हि मनोऽन्तःकरणं नित्यं चेति। क्व तर्हि विवादः ? तस्य विभुत्वे। तच्च प्रमाणतोऽनुपलब्धेः प्रतिषिद्धमिति।

एकं चान्तःकरणम्, नाना चैता ज्ञानात्मिका वृत्तयः—चक्षुर्विज्ञानं घ्राणविज्ञानं रूपविज्ञानं गन्धविज्ञानम्। एतच्च वृत्तिवृत्तिमतोरेकत्वेऽनुपपन्नमिति। पुरुषो जानीते नान्तःकरणमिति-एतेन विषयान्तरव्यासङ्गः प्रत्युक्तः[१]। विषयान्तरग्रहणलक्षणो विषयान्तरव्यासङ्गः पुरुषस्य, नान्तःकरणस्येति। क्वचिदिन्द्रियेण सन्निधिः, क्वचिदसन्निधिः—इत्ययं तु व्यासङ्गोऽनुज्ञायते मनस इति॥ ८॥

एकमन्तःकरणं नाना वृत्तय इति सत्यभेदे वृत्तेरिदमुच्यते—

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तदन्यत्वाभिमानः॥ ९॥

तस्यां वृत्तौ नानात्वाभिमानो यथा द्रव्यान्तरोपहिते स्फटिकद्रव्येऽन्यत्वाभिमानः-नीलो लोहित इति, एवं विषयान्तरोपधानादिति ?

न; हेत्वभावात्। स्फटिकान्यत्वाभिमानवदयं ज्ञानेषु नानात्वाभिमानो गौणो न पुनर्गन्धाद्यन्यत्वाभिमानवदिति-हेतुर्नास्ति, हेत्वभावादनुपपन्न इति। समानो हेत्वभाव इति चेत् ? न; ज्ञानानां क्रमेणोपजनापायदर्शनात्। क्रमेण हीन्द्रियार्थेषु ज्ञानान्युपजायन्ते चापयन्ति चेति दृश्यते। तस्माद् गन्धाद्यन्यत्वाभिमानवदयं ज्ञानेषु नानात्वाभिमान इति॥ ९॥

यह विवाद अन्तःकरण की सत्ता पर, या उसके नित्यत्व पर नहीं है, मन का अन्तःकरणत्व तथा नित्यत्व तो सिद्ध ही है। फिर विवाद किस बात पर है! उसके विभुत्व मानने पर। उस (विभुत्व) के विषय में कोई प्रमाण न मिलने से वह निरस्त होता है।

साङ्ख्यसम्मत वृत्ति एवं वृत्तिमान् का एकत्वसिद्धान्त यों भी अनुपपन्न है—अन्तःकरण एक है और चक्षुर्विज्ञान, घ्राणविज्ञान, रूपविज्ञान तथा गन्धविज्ञान आदि वृत्तियाँ अनेक हैं; तब यह भेद वृत्ति तथा वृत्तिमान् के अभेद में कैसे होगा! यह तो ठीक है कि पुरुष ज्ञाता है न कि अन्तःकरण, अतः विषयान्तरव्यासङ्ग वाला हमारा उत्तर खण्डित हो सकता है; क्योंकि 'विषयान्तरव्यासङ्ग' से तात्पर्य है—विषयान्तरज्ञान, वह पुरुष को ही बन सकता है, अन्तःकरण को नहीं; परन्तु कहीं इन्द्रिय के साथ सन्निधि तथा कहीं असन्निधि—इस तरह का विषयान्तरव्यासङ्ग तो मन में भी अनुज्ञात है ही॥ ८॥

शङ्का—वस्तुतः अभेद होने पर भी 'अन्तःकरण एक है, वृत्तियाँ नाना हैं'—यह इसलिये कह दिया जाता है कि—

स्फटिकान्यत्व के आरोप की तरह उस वृत्ति में अन्यत्व का आरोप है ?॥ ९॥

उस वृत्ति में नानात्व का आरोप लिया जाता है। जैसे नील रक्तादि पुष्पों के पास रखे हुए एक ही स्फटिक द्रव्य में नानात्व का आरोप (भ्रम) होता है कि यह नील स्फटिक है, यह रक्त स्फटिक है; उसी तरह विषयान्तर के उपधान (अनुग्रह) से वृत्ति में नानात्व का आरोप है ?

उत्तर—उक्त दृष्टान्त में कोई हेतु न होने से ऐसा मानना उचित नहीं। 'स्फटिकान्यत्वाभिमान की तरह यह ज्ञानों में नानात्वाभिमान गौण (आहार्यारोप) है, गन्धाद्यन्यत्वाभिमान की तरह वास्तविक नहीं'—इस अनुमान में हेतु नहीं है। अतः हेतु न दिखाया जाने से यह अनुमान बनेगा ही नहीं।

हेत्वभाव तो आपके पक्ष में भी है ? नहीं; क्योंकि अस्मदभिमत में ज्ञानों का क्रमशः

---

१. पुरुषो जानीते नान्तःकरणमिति हेतुना। अन्तःकरणस्येति शेषः। व्यासक्तो हि स भवति यो जानीते, नान्तःकरणं जानातेऽतो न व्यासक्तम्।

क्षणभङ्गपरीक्षाप्रकरणम् [१०-१७]

'स्फटिकान्यत्वाभिमानवद्' इत्येतदमृष्यमाणः क्षणिकवाद्याह—

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनामहेतुः॥ १०॥

स्फटिकस्याभेदेनावस्थितस्योपधानभेदान्नानात्वाभिमान इत्ययमविद्यमानहेतुकः पक्षः। कस्मात् ? स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः। स्फटिकेऽपि अन्या व्यक्तय उत्पद्यन्ते, अन्या निरुद्ध्यन्त इति। कथम् ? क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनाम्। क्षणश्चाल्पीयान् कालः, क्षणस्थितिकाः= क्षणिकाः। कथं पुनर्गम्यते-क्षणिका व्यक्तय इति ? उपचयापचयप्रबन्धदर्शनाच्छरीरादिषु। पक्तिनिर्वृत्तस्याहाररसस्य शरीरे रुधिरादिभावेनोपचयोऽपचयश्च प्रबन्धेन प्रवर्तते। उपचयाद् व्यक्तीनामुत्पादः, अपचयाद् व्यक्तिनिरोधः। एवं च सत्यवयवपरिणामभेदेन वृद्धिः शरीरस्य कालान्तरे गृह्यते इति। सोऽयं व्यक्तिविशेषधर्मो व्यक्तिमात्रे वेदितव्य इति॥ १०॥

नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा॥ ११॥

सर्वासु व्यक्तिषु उपचयापचयप्रबन्धः शरीरवदिति नायं नियमः। कस्मात् ?

उत्पत्तिविनाश लोक में प्रत्यक्ष है। इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष में क्रमशः ज्ञान उत्पन्न तथा विनष्ट होते रहते हैं—यह लोक में वारम्वार देखते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि वृत्ति में नानात्वारोप गन्धाद्यन्यत्वाभिमान की तरह मुख्य ही है, आहार्यारोप नहीं॥ ९॥

[अब सूत्रकार बौद्धमत से साङ्ख्यमत में दूषण दिखाते हुए **बौद्धों के प्रसिद्ध क्षणिकवाद के खण्डन** का उपक्रम कर रहे हैं—] सूत्रोक्त 'स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्' इस हेतु को असहन करते हुए क्षणिकविज्ञानवादी (बौद्ध) कहते हैं—

स्फटिक में दूसरे दूसरे व्यक्तियों की उत्पत्ति होते रहने के कारण व्यक्तियों के क्षणिक होने से उक्त हेतु नहीं बनेगा॥ १०॥

'अभेदेन उपस्थित स्फटिक में अनुग्रहभेद से नानात्व का आरोप है' यह पक्ष (प्रतिज्ञात अर्थ) अविद्यमानहेतुक है; क्योंकि स्फटिक में भी क्षण क्षण में दूसरे दूसरे की उत्पत्ति है। अर्थात् प्रतिक्षण स्फटिक व्यक्ति उत्पन्न होती है, तो पहली निरुद्ध होती रहती हैं। कारण, व्यक्ति तो क्षणिक है। अल्पतर काल को 'क्षण' तथा क्षणभर स्थितिवाले को 'क्षणिक' कहते हैं। यह कैसे ज्ञात होता है कि व्यक्ति क्षणिक हैं ? शरीरादि में वृद्धि तथा ह्रास का प्रवाह देखा जाने से। जठराग्नि पाक से निष्पन्न रस से शरीर में रुधिरादिभाव की वृद्धि तथा ह्रास के प्रवाह से वृद्धि ह्रास देखे जाते हैं। वहाँ उपचय से व्यक्ति का उत्पाद कहलाता है तथा अपचय से व्यक्ति का निरोध। इस रीति से अवयवों में परिणति होते रहने से कालपरिपाकवश शरीर के वृद्धि या ह्रास गृहीत होते हैं। यह व्यक्तिविशेष में दिखाया गया निदर्शन स्फटिकादि सभी व्यक्तियों में समझना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा (बौद्ध) मत स्वीकार कर लेने पर स्फटिकान्यत्व के आरोप की आवश्यकता न ही पड़ेगी, वहाँ तो क्षणिक सिद्धान्त से स्फटिकान्यत्व उपस्थित ही हैं ?॥ १०॥

आचार्य उत्तर देते हैं—

क्षणिकवाद का कोई नियमहेतु न होने से जहाँ जैसा देखें वहाँ वैसा अभ्यनुज्ञान कर लेना चाहिये॥ ११॥

'सभी व्यक्तियों का उपचयापचयप्रबन्ध शरीर की तरह होता है'—ऐसा कोई नियम नहीं;

हेत्वभावात्। नात्र प्रत्यक्षमनुमानं वा प्रतिपादकमस्तीति। तस्माद् यथादर्शनम् अभ्यनुज्ञा। यत्र यत्रोपचयापचयप्रबन्धो दृश्यते, तत्र तत्र व्यक्तीनामपरापरोत्पत्तिरुपचयापचयप्रबन्धदर्शनेनाभ्यनुज्ञायते, यथा—शरीरादिषु। यत्र यत्र न दृश्यते तत्र तत्र प्रत्याख्यायते, यथा—ग्रावप्रभृतिषु। स्फटिकेऽप्युपचयापचयप्रबन्धो न दृश्यते। तस्मादयुक्तम्-स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तिरिति। यथा चार्कस्य कटुकिम्ना सर्वद्रव्याणां कटुकिमानमापादयेत्, तादृगेतदिति!॥ ११॥

यश्च—अशेषनिरोधेनापूर्वोत्पादं निरन्वयं द्रव्यसन्ताने क्षणिकतां मन्यते, तस्यैतत्

न; उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः॥ १२॥

उत्पत्तिकारणं तावदुपलभ्यते—अवयवोपचयो वल्मीकादीनाम्। विनाशकारणं चोपलभ्यते—घटादीनामवयवविभागः। यस्य त्वनपचितावयवं निरुध्यते अनुपचितावयवं चोत्पद्यते, तस्याशेषनिरोधे निरन्वये वाऽपूर्वोत्पादे न कारणमुभयत्राप्युपलभ्यते इति॥ १२॥

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद् दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिः?॥ १३॥

यथानुपलभ्यमानं क्षीरविनाशकारणं दध्युत्पत्तिकारणं चाभ्यनुज्ञायते, तथा स्फटिकेऽपरापरासु व्यक्तिषु विनाशकारणमुत्पादकारणं चाभ्यनुज्ञेयमिति॥ १३॥

लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः॥ १४॥

क्षीरविनाशलिङ्गं क्षीरविनाशकारणं दध्युत्पत्तिलिङ्गं दध्युत्पत्तिकारणं च गृह्यते, अतो

क्योंकि इस नियम का साधक कोई हेतु नहीं है। इस नियम का प्रतिपादक न कोई प्रत्यक्ष है, न अनुमान; अतः जहाँ जैसे देखें वैसा स्वीकार लेना चाहिये। जहाँ जहाँ उपचयापचयप्रबन्ध देखें वहाँ वहाँ व्यक्तियों के उपचयापचय से उनके उत्पादविनाश की कल्पना से यथाकथमपि अपर अपर व्यक्ति के उत्पत्ति-विनाश माने जा सकते हैं, जैसे—शरीरादि में; परन्तु जहाँ जहाँ उपचयापचय न दिखायी दें वहाँ उक्त कल्पना का प्रत्याख्यान भी किया जा सकता है, जैसे—शिला आदि में। स्फटिक में भी अपर अपर व्यक्ति के उत्पाद विनाश की कल्पना अयुक्त ही है; अन्यथा यह बात तो वैसी ही होगी जैसे कोई पुरुष अर्क के कटुत्व का अनुभव कर सभी द्रव्यों को कटु समझने लगे॥ ११॥

और जो वादी (बौद्ध) सर्वावयवनाश हेतु से पूर्वांश से असम्बद्ध वैसे अपूर्व उत्पाद को द्रव्यसन्तानधारा में क्षणिकता को स्वीकार करता है, उसको यह बात

उचित नहीं; उत्पत्ति तथा विनाश का कारण उपलब्ध होने से॥ १२॥

(लोक में) वृद्धिरूप उत्पत्ति में कारण मिलता है, जैसे—वल्मीकादि का अवयवोपचय। अपचयरूप विनाश में भी कारण उपलब्ध होता है, जैसे—घटादि का अवयवशः विभाग। जिसके मत में अनपचितावयव द्रव्य विनष्ट तथा उपचितावयव द्रव्य उत्पन्न हो जाता है, उसके इस (सर्वावयवनाश तथा अपूर्व उत्पाद) मत के दोनों ही पक्षों का साधक कोई हेतु लोक में नहीं मिलता॥ १२॥

शङ्का—

दूध के विनाश में कारणानुपलब्धि की तरह तथा दधि की उत्पत्ति की तरह (उपर्युक्त तथाविध) उत्पत्ति सिद्ध हो जायगी?॥ १३॥

जैसे लोक में अनुपलभ्यमान क्षीरविनाश तथा दध्युत्पत्ति का कारण अभ्यनुज्ञात होता है, उसी तरह स्फटिक को अपर अपर व्यक्तियों में उत्पत्तिविनाशकारण मान लेना चाहिये?॥ १३॥

उक्त विनाश तथा उत्पत्ति का लिङ्ग द्वारा ग्रहण होने से वहाँ कारण की अनुपलब्धि नहीं है॥ १४॥

नानुपलब्धिः, विपर्ययस्तु स्फटिकादिषु अपरापरोत्पत्तीनां न लिङ्गमस्तीत्यनुत्पत्तिरेवेति[1]॥ १४॥

अत्र कश्चित् परिहारमाह—

न; पयसः परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात्॥ १५॥

पयसः परिणामो न विनाश इत्येक आह। परिणामश्च—अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिरिति।

गुणान्तरप्रादुर्भाव इत्यपर आह। गुणान्तरप्रादुर्भावश्च-सतो द्रव्यस्य पूर्वगुणनिवृत्तौ गुणान्तरमुत्पद्यत इति। स खल्वेकपक्षीभाव इव॥ १५॥

अत्र तु प्रतिषेधः—

व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम्॥ १६॥

सम्मूर्छनलक्षणादवयवव्यूहाद् द्रव्यान्तरे दध्न्युत्पन्ने गृह्यमाणे पूर्वं पयोद्रव्यमवयवविभागेभ्यो निवृत्तमित्यनुमीयते, यथा—मृदवयवानां व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरे स्थाल्यामुत्पन्नायां पूर्वं मृत्पिण्डद्रव्यं मृदवयवविभागेभ्यो निवर्तत इति। मृद्वच्चावयवान्वयः पयोदध्नोर्नाशेषनिरोधे निरन्वयो द्रव्यान्तरोत्पादो घटत इति॥ १६॥

क्षीरविनाश का लिङ्ग तथा कारण एवं दध्युत्पत्ति का लिङ्ग तथा कारण प्रमाणों से गृहीत हैं, अतः वहाँ आप अनुपलब्धि नहीं कह सकते। इसके विपरीत, स्फटिकादि द्रव्यों में अपर अपर व्यक्तियों की उत्पत्ति में कोई लिङ्ग नहीं है, अतः उनका अनुपपादन ही समझिये॥ १४॥

यहाँ कोई (साङ्ख्यमतानुयायी) अपने मत से समाधान देते हैं—

दूध का यहाँ विनाश नहीं होता, अपितु परिणामाख्य गुणविशेष प्रादुर्भूत हो जाता है॥ १५॥

दूध का परिणाम धर्मान्तरोत्पाद विनाश कैसे कहला सकता है—ऐसा एक साङ्ख्यमतानुयायी कहता है।'परिणाम' कहते हैं—अवस्थित द्रव्य के पूर्व-धर्म की निवृत्ति होने पर धर्मान्तर की उत्पत्ति हो जाना।

दूसरा साङ्ख्यमतानुयायी कहता है—वहाँ गुणान्तर का प्रादुर्भाव हो जाता है। द्रव्य के विद्यमान रहते पूर्व गुण की निवृत्ति हो कर गुणान्तर का उत्पादन होना—'गुणान्तरप्रादुर्भाव' कहलाता है। इन दोनों ही पक्षों में धर्मी के अविनाशवाली बात समान है, अवशिष्ट में एक वादी परिणाम मानता है तथा एक गुणान्तर का विनाशप्रादुर्भाव॥ १५॥

उक्त साङ्ख्यमत का खण्डन—

व्यूहान्तर से द्रव्यान्तरोत्पत्ति का दिखायी देना पूर्व द्रव्य की निवृत्ति का अनुमान करा देता है॥ १६॥

सम्मूर्छनलक्षणक अवयवव्यूह से दधिरूप द्रव्यान्तर के गृहीत होने पर, पहले का दुग्धद्रव्य अवयवों का विभाग (विनाश) होने से विनष्ट हो गया—ऐसा अनुमान होता है। जैसे मिट्टी के अवयवों के व्यूहान्तर से स्थालीरूप द्रव्यान्तर के उत्पन्न होने की दशा में पहले का मृत्पिण्ड द्रव्य मृदवयवों के विभक्त होने से निवृत्त हुआ रहता है। मृत्तिका के अन्वय की तरह दूध-दही के अन्वय की स्थिति समझनी चाहिये। सम्पूर्णतया अन्वय (अवयव) के न रहने में द्रव्यान्तरोत्पाद होता है—

१. अत्रत्यं वार्तिकं जिज्ञासुभिरवश्यं ध्येयम्।

अभ्यनुज्ञाय च निष्कारणं क्षीरविनाशं दध्युत्पादं च प्रतिषेध उच्यत इति—

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ॥ १७ ॥

क्षीरदधिवन्निष्कारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकव्यक्तीनामिति नायमेकान्त इति। कस्मात्? हेत्वभावाद्। नात्र हेतुरस्ति—अकारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकादिव्यक्तीनां क्षीरदधिवत्; न पुनर्यथा विनाशकारणभावात् कुम्भस्य विनाशः, उत्पत्तिकारणभावाच्चोत्पत्तिः। एवं स्फटिकादिव्यक्तीनां विनाशोत्पत्तिकारणभावाद्विनाशोत्पत्तिभाव इति।

निरधिष्ठानं च दृष्टान्तवचनम्। गृह्यमाणयोर्विनाशोत्पादयोः स्फटिकादिषु स्यादयमाश्रयवान् दृष्टान्तः-क्षीरविनाशकारणानुपलब्धिवद्, दध्युत्पत्तिवच्चेति, तौ तु न गृह्येते। तस्मान्निरधिष्ठानोऽयं दृष्टान्त इति।

अभ्यनुज्ञाय च स्फटिकस्योत्पादविनाशौ, योऽत्र साधकस्तस्याभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः। कुम्भवन्न निष्कारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकादीनामित्यभ्यनुज्ञेयोऽयं दृष्टान्तः; प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्। क्षीरदधिवत्तु निष्कारणौ विनाशोत्पादाविति शक्योऽयं प्रतिषेद्धुम्; कारणतो विनाशोत्पत्तिदर्शनात्। क्षीरदध्नोर्विनाशोत्पत्ती पश्यता तत्कारणमनुमेयम्। कार्यलिङ्गं हि कारणम् इत्युपपन्नम्—'अनित्या बुद्धिः' इति ॥ १७ ॥

ऐसा मानना उचित नहीं। अतः 'अवस्थित का द्रव्यान्तर परिणाम' वाला साङ्ख्यसिद्धान्त अयुक्त है ॥ १६ ॥

अथ च—निष्कारण क्षीरविनाश तथा दध्युत्पाद मान कर भी आप उसका प्रतिषेध करते हैं, यह भी उचित नहीं; क्योंकि—

विनाश-कारण की कहीं अनुपलब्धि तथा कहीं उपलब्धि होने से, यह नियम नहीं कहा जा सकता ॥ १७ ॥

स्फटिक व्यक्ति में, क्षीरदधि की तरह निष्कारण विनाश उत्पाद होते हैं—यह नियम (व्याप्ति) नहीं बन पाती; क्योंकि इसमें कोई हेतु नहीं है। यहाँ आप कोई हेतु नहीं बता सकते कि स्फटिक व्यक्ति में क्षीर दधि की तरह अकारण ही विनाश उत्पाद हो जाते हैं। और इस नियम को आप निराकृत भी नहीं कर सकते कि विनाशकारण उपस्थित होने पर घट का विनाश हो जाता है, उत्पत्तिकारण होने पर उसकी उत्पत्ति हो जाती है। इसी नियम से स्फटिक व्यक्ति में जब विनाश उत्पाद के कारण उपस्थित होंगे तो उसके विनाश उत्पाद हो जाते हैं।

क्षीरदृष्टान्त निराश्रय (निर्विषय) भी है। स्फटिकादि में विनाश उत्पाद यदि गृहीत होते तो क्षीरविनाशकारणानुपलब्धि तथा दध्युत्पत्ति वाला दृष्टान्त सविषयक होता। स्फटिक में वे गृहीत नहीं होते, अतः यह दृष्टान्त निराश्रय ही है।

स्फटिक का उत्पाद-विनाश (कार्य) स्वीकार करके प्रकृति के साधक (कारण) की स्वीकृति की जा सकती है तो उसका अपरापर व्यक्ति की उत्पत्ति का प्रतिषेध बनेगा! घट की तरह उत्पाद विनाश निष्कारण नहीं हैं, अतः यह (घटवाला) दृष्टान्त स्वीकार करने में भी बाधा नहीं होनी चाहिये; क्योंकि इसका आप प्रतिषेध नहीं कर सकते। क्षीर दधि की तरह निष्कारण विनाश उत्पाद होते हैं, यह दृष्टान्त, कारण से विनाश उत्पाद देखा जाने से प्रतिषिद्ध किया जा सकता है। क्षीर दधि का विनाश-उत्पाद देखने वाला भी उसके कारण का अनुमान अवश्य कर लेगा, क्योंकि कारण कार्य का अनुमापक है। इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग से यह सिद्ध हो गया कि बुद्धि अनित्य है ॥ १७ ॥

बुद्धेरात्मगुणत्वपरीक्षाप्रकरणम् [१८-४१]

इदं तु चिन्त्यते—कस्येयं बुद्धिरात्मेन्द्रियमनोऽर्थानां गुण इति प्रसिद्धोऽपि खल्वयमर्थः, परीक्षाशेषं प्रवर्त्तयामीति प्रक्रियते। सोऽयं बुद्धौ सन्निकर्षोत्पत्तेः संशयः; विशेषस्याग्रहणादिति। तत्रायं विशेषः—

नेन्द्रियार्थयोः; तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ॥ १८ ॥

नेन्द्रियाणामर्थानां वा गुणो ज्ञानम्; तेषां विनाशे ज्ञानस्य भावात्। भवति खल्विदमिन्द्रियेऽर्थे च विनष्टे—ज्ञानमद्राक्षमिति। न च ज्ञातरि विनष्टे ज्ञानं भवितुमर्हति। अन्यत् खलु वै तदिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं ज्ञानं यदिन्द्रियार्थविनाशे न भवति। इदमन्यदात्ममनःसन्निकर्षजं तस्य युक्तो भाव इति। स्मृतिः खल्वियम्—'अद्राक्षम्' इति पूर्वदृष्टविषया। न च विज्ञातरि नष्टे पूर्वोपलब्धेः स्मरणं युक्तम्, न चान्यदृष्टमन्यः स्मरति। न च मनसि ज्ञातर्यभ्युपगम्यमाने शक्यमिन्द्रियार्थयोर्ज्ञातृत्वं प्रतिपादयितुम् ॥ १८ ॥

अस्तु तर्हि मनोगुणो ज्ञानम्?

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥ १९ ॥

'युगपज्ज्ञेयानुपलब्धिरन्तःकरणस्य लिङ्गम्' (१.१.१६), तत्र युगपज्ज्ञेयानुपलब्ध्या यदनुमीयते अन्तःकरणं न तस्य गुणो ज्ञानम्। कस्य तर्हि? ज्ञस्य[१], वशित्वात्। वशी ज्ञाता, वश्यं

अब इस पर विचार किया जा रहा है कि आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा अर्थ—इनमें से **बुद्धि किसका गुण है**? यद्यपि इस विषय पर पहले (३.१.१) भी विचार किया जा चुका है; परन्तु इसके विशेष परिज्ञान के लिये पुनः विचार प्रारम्भ कर रहे हैं। बुद्धि में आत्मा, इन्द्रिय, तथा अर्थ के सन्निकर्ष की अपेक्षा होती है, अतः इन का यह गुण है—यह तो निश्चित हो गया; परन्तु इनमें से यह किस एक का गुण है—ऐसा विशेष ज्ञान नहीं होता-अतः संशय उपस्थित हो गया।

यहाँ विशेष वक्तव्य यह है—

इन्द्रिय तथा अर्थ का गुण बुद्धि नहीं है; क्योंकि उनके विनष्ट होने पर भी वह रहती है ॥ १८ ॥

बुद्धि इन्द्रियों या अर्थों का गुण नहीं है, क्योंकि उन इन्द्रियों तथा अर्थों के विनष्ट होने पर भी ज्ञान यथास्थित रहता है। इन्द्रिय तथा अर्थ के विनष्ट होने पर भी ऐसा होता है कि 'इसको मैंने देखा था', अन्यथा ज्ञाता के विनष्ट होने पर ज्ञान नहीं रहता! वह इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान (चाक्षुष आदि) दूसरा है, जो इन्द्रियार्थविनाश होने पर नहीं होता। परन्तु 'मैंने देखा था' यह आत्ममनःसन्निकर्षज ज्ञान दूसरा है, यह तो रह ही सकता है। 'मैंने इसे देखा था' यह पूर्वदृष्टविषयक स्मृति है। विज्ञाता के नष्ट होने पर पहले देखी हुई वस्तु का स्मरण युक्त नहीं; क्योंकि अन्य दृष्ट को अन्य कैसे स्मरण करेगा? मन को ज्ञाता स्वीकार कर लिये जाने पर इन्द्रियार्थ को ज्ञाता बताना भी उचित नहीं ॥ १८ ॥

तो फिर मन को ही बुद्धि का गुण मान लें?

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धि होने से बुद्धि मन का गुण नहीं है ॥ १९ ॥

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धि अन्तःकरण (मन) का अनुमापक है। युगपज्ज्ञेयानुपलब्धिहेतु से जिस मन का अस्तित्व सिद्ध करते हो, ज्ञान (बुद्धि) उसका गुण नहीं है तो किसका गुण है? ज्ञाता का। ज्ञाता (आत्मा) स्वतन्त्र है, ज्ञानसाधन मन उस के अधीन है, यदि बुद्धि को मन का गुण माने तो मन

---

१. जानतीति ज्ञः, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (३.१.१३५) इति पाणिनिसूत्रेण सिद्धः, तस्य, ज्ञातुरित्यर्थः।

करणम्, ज्ञानगुणत्वे वा करणभावनिवृत्तिः। घ्राणादिसाधनस्य च ज्ञातुर्गन्धादिज्ञानभावाद-नुमीयते-अन्तःकरणसाधनस्य सुखादिज्ञानं स्मृतिश्चेति। तत्र यज्ज्ञानगुणं मनः स आत्मा, यत्तु सुखाद्युपलब्धिसाधनमन्तःकरणं मनस्तदिति संज्ञाभेदमात्रं नार्थभेद इति।

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च योगिन इति वा चार्थः। योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु युगपज्ज्ञेयान्युपलभते। तच्चैतद्विभौ ज्ञातर्युपपद्यते, नाणौ मनसीति। विभुत्वे वा मनसो ज्ञानस्य नात्मगुणत्वप्रतिषेधः। विभु च मनस्तदन्तःकरणभूतमिति तस्य सर्वेन्द्रियैर्युगपत्संयोगाद् युगपज्ज्ञानान्युत्पद्येरन्निति ॥ १९ ॥

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ? ॥ २० ॥

विभुरात्मा सर्वेन्द्रियैः संयुक्त इति युगपज्ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्ग इति ? ॥ २० ॥

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात् तदनुत्पत्तिः ॥ २१ ॥

गन्धाद्युपलब्धेरिन्द्रियार्थसन्निकर्षवदिन्द्रियमनःसन्निकर्षोऽपि कारणम्, तस्य चायौग-पद्यमणुत्वान्मनसः। अयौगपद्यादनुत्पत्तिर्युगपज्ज्ञानानामात्मगुणत्वेऽपीति ॥ २१ ॥

यदि पुनरात्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षमात्राद् गन्धादिज्ञानमुत्पद्यते ?

न; उत्पत्तिकारणानपदेशात् ॥ २२ ॥

का साधनत्व नष्ट हो जायगा। जैसे घ्राणादिसाधन (इन्द्रिय) वाले पुरुष को गन्धादि का ज्ञान होता है उसी तरह अन्तःकरणसाधन वाले को सुखादि ज्ञान तथा स्मृति होती है—ऐसा अनुमान होता है। इस प्रकार मन के दो भेद हो गये! उन में जो ज्ञानगुणवाला मन है, उसे आत्मा कह देते हैं, और जो सुखाद्युपलब्धि साधन मन वह है अन्तःकरण है। यह नाम का ही भेद है, अर्थ का भेद नहीं। अर्थात् एक ज्ञाता ज्ञानगुणवान् है, तथा दूसरा ज्ञानसाधन है—यों, हम दोनों के पक्ष में समानता ही है। अन्तर इतना ही है कि जिस ज्ञाता को आप 'मन' कहते हैं, उसी को हम 'आत्मा' कहते हैं।

सूत्रस्थ 'च' से एक अर्थ यह भी निकलता है कि यदि ज्ञान को मन का गुण मानोगे तो अणु मन द्वारा योगी को जो युगपज्ज्ञेयोपलब्धि होती है वह असम्भव हो जायगी। योगी योगज समाधि के प्रादुर्भूत होने पर साधारण जनों से विशिष्ट इन्द्रियों का इन्द्रियसहित शरीरान्तर का निर्माण कर उन से एक साथ अनेक ज्ञेयों का ज्ञान लेता है। यह बात ज्ञाता के विभु मानने पर बन सकती है, मन के अणु मानने पर नहीं। मन के विभु होने पर भी ज्ञान के आत्मगुण का प्रतिषेध नहीं बनता। विभु मन उस ज्ञाता का अन्तःकरण है, उसका सब इन्द्रियों के साथ युगपत् संयोग होने से युगपद् ज्ञान उत्पन्न होंगे ॥ १९ ॥

ज्ञान को आत्मा का गुण मानने पर भी बात वही रहेगी ? ॥ २० ॥

विभु आत्मा सब इन्द्रियों के साथ संयुक्त होगा तो युगपज्ज्ञानोत्पाद होने लगेगा ? ॥ २० ॥

उत्तर—

इन्द्रियों का मन के साथ सन्निकर्ष न होने से युगपज्ज्ञानोत्पाद नहीं होता ॥ २१ ॥

गन्धाद्युपलब्धि का, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के कारण की तरह, इन्द्रियमनःसन्निकर्ष भी कारण है। वह इन्द्रियमनःसन्निकर्ष एक साथ अनेक जगह नहीं हो सकता; क्योंकि मन अणु है। अयौगपद्य होने से ही, ज्ञान की युगपद् उत्पत्ति आत्मगुण मानने पर भी नहीं होगी ॥ २१ ॥

यदि 'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्ष से ही गन्धादि ज्ञान हो जाता है, तो मन की कोई आवश्यकता नहीं'—ऐसा मान लें ?

'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षमात्राद् गन्धादिज्ञानमुत्पद्यते'-नात्रोत्पत्तिकारणमपदिश्यते, येनै-तत् प्रतिपद्येमहीति ॥ २२ ॥

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ? ॥ २३ ॥

'तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम्' इत्येतदनेन समुच्चीयते। द्विविधो हि गुणनाशहेतुः-गुणानामाश्रयाभावः, विरोधी च गुणः। नित्यत्वादात्मनोऽनुपपन्नः पूर्वः, विरोधी च बुद्धेर्गुणो न गृह्यते। तस्मादात्मगुणत्वे सति बुद्धेर्नित्यत्वप्रसङ्गः ? ॥ २३ ॥

अनित्यत्वग्रहाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् ॥ २४ ॥

अनित्या बुद्धिरिति सर्वशरीरिणां प्रत्यात्मवेदनीयमेतत्। गृह्यते च बुद्धिसन्तानस्तत्र बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरं विरोधी गुण इत्यनुमीयते, यथा-शब्दसन्ताने शब्दः शब्दान्तरविरोधीति ॥ २४ ॥

असंख्येयेषु ज्ञानकारितेषु संस्कारेषु स्मृतिहेतुष्वात्मसमवेतेष्वात्ममनसोश्च सन्निकर्षे समाने स्मृतिहेतौ सति न कारणस्यायौगपद्यमस्तीति युगपत्स्मृतयः प्रादुर्भवेयुः, यदि बुद्धिरात्मगुणः स्यादिति ?

तत्र कश्चित् सन्निकर्षस्यायौगपद्यमुपपादयिष्यन्नाह—

उत्पत्तिकारण का प्रसङ्ग न होने से ऐसा नहीं मान सकते ॥ २२ ॥

'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षमात्र से ही गन्धादि ज्ञान उत्पन्न हो जाता है'—यह आप कह रहे हैं, परन्तु अभी ज्ञानोत्पत्ति के विचार का प्रसङ्ग नहीं, जिससे हम आपसे सहमत हो सकें ॥ २२ ॥

शङ्का—

ज्ञान के विनाशकारण की अनुपलब्धि से उस के सदा वर्तमान रहने पर उसमें नित्यता की प्रसक्ति होने लगेगी ? ॥ २३ ॥

यहाँ 'ज्ञान के आत्मगुण मानने पर भी यह बात तो समान है' (३.२.२०)—इस सूत्र का भी समुच्चय कर लेना चाहिये। गुणनाश के हेतु दो हो सकते हैं—१. या तो उन के आश्रय का अभाव हो जाय, २. या फिर उसका विरोधी गुण पैदा हो जाय। नित्य होने से आत्मा में पहला विकल्प तो बनेगा नहीं; तथा बुद्धि का कोई विरोधी गुण गृहीत नहीं होता, अतः बुद्धि को आत्मगुण मानने पर उसमें नित्यत्वप्रसङ्ग होने लगेगा ? ॥ २३ ॥

उत्तर—

बुद्धि के अनित्यत्वग्रहण से बुद्ध्यन्तर से उसका विनाश हो जाता है, शब्द की तरह ॥ २४ ॥

'ज्ञान अनित्य है'—यह बात सभी प्राणियों को अनुभवसिद्ध है, प्रत्येक ज्ञान के पश्चात् ज्ञानधारा होती है, जैसे—पहले घटज्ञान हुआ, फिर 'इस घट को मैं जानता हूँ'—यह ज्ञान, अथवा घटज्ञान ही प्रतिक्षण में उत्पन्न होते हैं—यों क्रम से ज्ञान होते चलते हैं। यह क्रमिक ज्ञान ही बुद्धि के बुद्ध्यन्तर गुण का विरोधी है—ऐसा अनुमान किया जाता है। जैसे शब्दसन्तान में शब्द का शब्दान्तरविरोधी होता है ॥ २४ ॥

शङ्का—

स्मृतिहेतुक आत्मसमवेत असंख्य ज्ञानजनित संस्कारों एवं आत्ममनःसन्निकर्ष के समान रूप से स्मृतिहेतु होने पर कारण का अयौगपद्य नहीं है, अतः बुद्धि को आत्मगुण मानेंगे तो युगपत् स्मृतियाँ प्रादुर्भूत होने लगेंगी ?

वहाँ कोई एकदेशी सन्निकर्ष के अयौगपद्य का उपपादन करने के लिये कहता है—

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ?॥ २५॥

ज्ञानसाधनः संस्कारो ज्ञानमित्युच्यते, ज्ञानसंस्कृतैरात्मप्रदेशैः पर्यायेण मनः सन्निकृष्यते। आत्ममनःसन्निकर्षात् स्मृतयोऽपि पर्यायेण भवन्तीति ?॥ २५॥

न; अन्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः॥ २६॥

सदेहस्यात्मनो मनसा संयोगो विपच्यमानकर्माशयसहितो जीवनमिष्यते। तत्रास्य प्राक् प्रायणादन्तःशरीरे वर्तमानस्य मनसः शरीराद् बहिर्ज्ञानसंस्कृतैरात्मप्रदेशैः संयोगो नोपपद्यत इति॥ २६॥

साध्यत्वादहेतुः ?॥ २७॥

विपच्यमानकर्माशयमात्रं जीवनम्, एवं च सति साध्यमन्तःशरीरवृत्तित्वं मनस इति॥ २७॥

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः॥ २८॥

सुस्मूर्षया खल्वयं मनः प्रणिदधानः चिरादपि कञ्चिदर्थं स्मरति, स्मरतश्च शरीरधारणं दृश्यते। आत्ममनःसन्निकर्षजश्च प्रयत्नो द्विविधः-धारकः, प्रेरकश्च। निःसृते च शरीराद् बहिर्मनसि धारकस्य प्रयत्नस्याभावाद् गुरुत्वात् पतनं स्यात् शरीरस्य स्मरत इति॥ २८॥

न; तदाशुगतित्वान्मनसः ?॥ २९॥

आशुगति मनः, तस्य बहिःशरीरात्मप्रदेशेन ज्ञानसंस्कृतेन सन्निकर्षः, प्रत्यागतस्य च प्रयत्नोत्पादनमुभयं युज्यते इति। उत्पाद्य वा धारकं प्रयत्नं शरीरान्निःसरणं मनसः; अतस्तत्रोपपन्नं धारणमिति ?॥ २९॥

ज्ञानसमवेत आत्मप्रदेशसन्निकर्ष हेतु से मन द्वारा स्मृत्युत्पत्ति होने से युगपद् उत्पत्ति नहीं होगी॥ २५॥

ज्ञानसाधन संस्कार 'ज्ञान' कहलाता है। ज्ञानसंस्कृत आत्मप्रदेशों से मन क्रमशः सन्निकृष्ट होता है! इस पर्यायजनित आत्ममनःसन्निकर्ष से स्मृतियाँ भी पर्याय से ही होंगी॥ २५॥

मन के अन्तःशरीरवृत्ति होने से ऐसा कहना युक्त नहीं॥ २६॥

सदेह आत्मा से प्रारब्ध कर्मसहित मन का संयोग 'जीवन' कहलाता है। वहाँ, मृत्यु से पूर्व अन्तःशरीर में ही वर्तमान मन का शरीर से बाहर के आत्मप्रदेशों से संयोग उपपन्न नहीं होता॥ २६॥

एकदेशी की शङ्का—

उक्त जीवनलक्षण स्वयं साध्य होने से हेतु नहीं बन सकता ?॥ २७॥

विपच्यमान कर्माशयमात्र ही 'जीवन' है—ऐसा मानने पर मन का अन्तःशरीरवृत्तित्व प्रमाणों से साधनीय है, अतः वह सिद्ध नहीं है ?॥ २७॥

स्मरण करनेवाले का शरीरधारणोपपादन होने से निषेध युक्त नहीं॥ २८॥

स्मरण करने की इच्छा से यह मन प्रणिधान करता हुआ बहुत काल के बाद भी किसी विषय का स्मरण कर ही लेता है, और वैसे स्मरणकर्ता को शरीरधारण किये हुए भी देखते हैं। आत्ममनःसन्निकर्षज प्रयत्न दो प्रकार का होता है—१. शरीर का धारक तथा २. प्रेरक। यों, शरीर से बाहर मन के निकल जाने पर धारकप्रयत्नाभाव से स्मरण करते हुए शरीर का गुरुत्व के कारण पतन होने लगेगा॥ २८॥

मन के आशुगति होने से पतन नहीं होगा ?॥ २९॥

न; स्मरणकालानियमात्॥ ३०॥

किञ्चित् क्षिप्रं स्मर्यते, किञ्चिच्चिरेण। यदा चिरेण, तदा सुस्मूर्षया मनसि धार्यमाणे चिन्ताप्रबन्धे सति कस्यचिदर्थस्य लिङ्गभूतस्य चिन्तनमाराधितं स्मृतिहेतुर्भवति। तच्चैतच्चिरनिश्चरिते मनसि नोपपद्यत इति। शरीरसंयोगानपेक्षश्चात्ममनःसंयोगो न स्मृतिहेतुः, शरीरस्य भोगायतनत्वात्। उपभोगायतनं पुरुषस्य ज्ञातुः शरीरम्, न ततो निश्चरितस्य मनस आत्मसंयोगमात्रं ज्ञानसुखादीनामुत्पत्तौ कल्पते, क्लृप्तौ वा शरीरवैयर्थ्यमिति॥ ३०॥

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः ?॥ ३१॥

आत्मप्रेरणेन वा मनसो बहिः शरीरात् संयोगविशेषः स्याद् यदृच्छया वाऽऽकस्मिकतया, ज्ञतया वा मनसः? सर्वथा चानुपपत्तिः। कथम्? स्मर्तव्यत्वादिच्छातः स्मरणज्ञानासम्भवाच्च। यदि तावदात्मा 'अमुष्यार्थस्य स्मृतिहेतुः संस्कारः अमुष्मिन्नात्मप्रदेशे समवेतस्तेन मनः संयुज्यताम्' इति मनः प्रेरयति, तदा स्मृत एवासावर्थो भवति, न स्मर्तव्यः। न चात्मप्रत्यक्ष आत्मप्रदेशः संस्कारो वा, तत्रानुपपन्नाऽऽत्मप्रत्यक्षेण संवित्तिरिति। सुस्मूर्षया चायं मनः प्रणिदधानश्चिरादपि कञ्चिदर्थं स्मरति, नाकस्मात्। ज्ञत्वं च मनसो नास्ति, ज्ञानप्रतिषेधादिति॥ ३१॥

मन शीघ्रगतिवाला है, उसका शरीर से बाहर ज्ञानसंस्कृत आत्मप्रदेश से सन्निकर्ष होता है, तथा वह पुनः लौटकर शरीरधारक प्रयत्न उत्पन्न करता है—ये दोनों क्रियाएं उसमें सम्पन्न होती हैं। या धारक प्रयत्न को उत्पन्न करके वह शरीर से बाहर निकलता है। इस रीति से, धारण उत्पन्न होने से पतन नहीं बनेगा ?॥ २९॥

स्मरणकाल का नियम न होने से (पतनप्रतिषेध) नहीं (हो सकता)॥ ३०॥

कोई बात शीघ्र स्मरण आ जाती है, कोई देर में। जब कोई बात देर में स्मरण आती है, उस स्मरण करने की इच्छा से धार्यमाण मन में चिन्ताप्रबन्ध के होने से हेतुभूत किसी अर्थ के विषय में किया गया चिन्तन स्मृतिहेतु होता है। इस स्थिति में यह दीर्घकालिक चिन्तन बाहर निकलनेवाले मन में नहीं बनेगा। ऐसा आत्ममनःसन्निकर्ष जो शरीरसंयोग की अपेक्षा न रखता हो, स्मृतिहेतु नहीं बन सकता; क्योंकि शरीर ही भोगायतन है। ज्ञाता पुरुष का उपभोगायतन शरीरमात्र है, उस में से मन के बाहर निकल जाने पर, आत्मसंयोगमात्र ज्ञान सुखादि की उत्पत्ति में हेतु कल्पित नहीं किया जा सकता है। यदि कल्पना कर भी लें तो उस शरीर का वैयर्थ्य ही होगा॥ ३०॥

'ज्ञानसमवेत' (३.२.२५) इत्यादि सूत्रोक्त एकदेशिमत को दूसरा एकदेशी खण्डित कर रहा है—

शरीर से बाहर संयोग आत्मप्रेरणा, यदृच्छा या ज्ञातृता से नहीं हो पाता ?॥ ३१॥

मन का शरीर से बाहर के प्रदेश में संयोग या तो आत्मप्रेरणा से हो, या फिर यदृच्छा से (अकस्मात्) हो, या मन की ज्ञातृता से हो—तीनों ही विकल्पों में उपपादन नहीं बनेगा। कैसे? स्मर्तव्य होने से, या इच्छा द्वारा स्मरणज्ञान सम्भव न होने से। यदि आत्मा 'अमुक अर्थ का स्मृतिहेतु संस्कार अमुक आत्मप्रदेश में समवेत हुआ है, अतः उससे साथ जाकर मन संयुक्त हो'—ऐसी प्रेरणा मन को करता है तो वह अर्थ आत्मा द्वारा स्मृत ही है, स्मर्तव्य उसमें क्या रह गया! और उक्त प्रेरणा भी अनुपपन्न है, क्योंकि आत्मप्रदेश तथा संस्कार आत्मप्रत्यक्ष हैं नहीं, अतः वहाँ आत्मप्रत्यक्ष से संवित्ति अनुपपन्न है। स्मरण करने की इच्छा से मन प्रणिधान करता हुआ बहुत देर में भी किसी अर्थ

एतच्च—

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम्॥ ३२॥

यदा खल्वयं व्यासक्तमनाः क्वचिद् देशे शर्करया कण्टकेन वा पादव्यथनमाप्नोति, तदाऽऽत्ममनःसंयोगविशेष एषितव्यः। दृष्टं हि दुःखं दुःखवेदनं चेति तत्रायं समानः प्रतिषेधः। यदृच्छया तु न विशेषः, नाकस्मिकी क्रिया, नाकस्मिकः संयोग इति।

कर्मादृष्टमुपभोगार्थं क्रियाहेतुरिति चेत्? समानम्।

कर्मादृष्टं पुरुषस्थं पुरुषोपभोगार्थं मनसि क्रियाहेतुः, एवं दुःखं दुःखसंवेदनं च सिध्यतीत्येवं चेन्मन्यसे? समानम्। स्मृतिहेतावपि संयोगविशेषो भवितुमर्हति। तत्र यदुक्तम्—'आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः' (३.२.३१) इति, अयमप्रतिषेध इति। पूर्वस्तु प्रतिषेधः 'नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः' (३.२.२६) इति?॥ ३२॥

कः खल्विदानीं कारणयौगपद्यसद्भावे युगपदस्मरणस्य हेतुरिति?

प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावादयुगपत्स्मरणम्॥ ३३॥

यथा खल्वात्ममनसोः सन्निकर्षः संस्कारश्च स्मृतिहेतुः, एवं प्रणिधानं लिङ्गादिज्ञानानि, तानि च न युगपद्भवन्ति, तत्कृता स्मृतीनां युगपदनुत्पत्तिरिति।

प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्ते यौगपद्यप्रसङ्गः[1]।

को स्मरण करता है, अकस्मात् नहीं। अतः दूसरा पक्ष भी अनुपपन्न है; क्योंकि मन में ज्ञानप्रतिषेध पहले प्रतिपादित किया जा चुका, अतः उसमें ज्ञातृत्व अनुपपन्न है॥ ३१॥

दूसरे एकदेशिमत का खण्डन—

और यह कथन—

व्यासक्तमना पुरुष के पादव्यथन द्वारा हुए संयोगविशेष के समान है॥ ३२॥

जब इस अन्यासक्तचित्त पुरुष का कहीं कंकड़ या काँटे से पैर बिंध जाता है, तब एक विशिष्ट आत्ममनःसंयोग मानना ही पड़ेगा; क्योंकि लोक में वैसा दुःख तथा दुःखानुभूति भी देखी जाती है। इसमें भी प्रतिषेध पहले जैसा ही है; क्योंकि यदृच्छा से यह संयोगविशेष नहीं होता, न यहाँ आकस्मिकी क्रिया ही होती है, न तथाभूत संयोग ही।

यदि वैसे संयोगविशेष में अदृष्ट कर्म ही उपभोग के लिये क्रिया का हेतु हो जायगा? तो यह बात स्मृतिहेतु मनःसंयोग में भी समान है। पुरुषस्थ अदृष्ट कर्म पुरुष के उपभोग के लिये मन में क्रियाहेतु बन जायगा एवं सुखाद्युपभोग भी उसको प्राप्त होगा—ऐसा मानोगे? तो हमारे मत में भी यही उत्तर है। अर्थात् स्मृतिहेतु में भी संयोगविशेष उस प्रकार हो सकता है। अतः वहाँ जो आपने प्रतिषेध दिया था कि—'आत्मप्रेरणा, यदृच्छा तथा ज्ञातृता से संयोगविशेष नहीं होता' (३.२.३१)—यह नहीं बनेगा। अपितु मन के 'अन्तःशरीरवृत्ति होने से शरीर के बाह्य प्रदेशों में उसका संयोग नहीं होता' (३.२.२६)—यह पहला प्रतिषेध ही बनेगा॥ ३२॥

शङ्का—स्मृतियौगपद्य के रहते अब कौन युगपद् स्मरण न होने में हेतु है?

प्रणिधान, लिङ्गादि ज्ञान के अयुगपद्भाव से युगपद् स्मरण नहीं होता॥ ३३॥

जैसे आत्ममनःसन्निकर्ष तथा संस्कार स्मृतिहेतु हैं, उसी तरह प्रणिधान तथा लिङ्गादिज्ञान भी स्मृतिहेतु हैं। वे युगपद् उद्भूत नहीं होते; अतः तत्कृत स्मृतियाँ भी युगपद् उत्पन्न नहीं होतीं।

---

1. इदं भाष्यमेव न सूत्रम्; प्रमाणाभावात्।

यत्खल्विदं प्रातिभमिव ज्ञानं प्रणिधानाद्यनपेक्षं स्मार्त्तमुत्पद्यते, कदाचित्तस्य युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गः, हेत्वभावात्। सतः स्मृतिहेतोरसंवेदनात् प्रातिभेन समानाभिमानः। बह्वर्थविषये वै चिन्ताप्रबन्धे कश्चिदेवार्थः कस्यचित्स्मृतिहेतुः, तस्यानुचिन्तनात् तस्य स्मृतिर्भवति, न चायं स्मर्ता सर्वं स्मृतिहेतुं संवेदयते–'एवं मे स्मृतिरुत्पन्ना' इति, असंवेदनात् प्रातिभमिव ज्ञानमिदं स्मार्तमित्यभिमन्यते। न त्वस्ति प्रणिधानाद्यनपेक्षं स्मार्तमिति।

प्रातिभे कथमिति चेत्? पुरुषकर्मविशेषादुपभोगवन्नियमः।

प्रातिभमिदानीं ज्ञानं युगपत् कस्मान्नोत्पद्यते? यथोपभोगार्थं कर्म युगपदुपभोगं न करोति, एवं पुरुषकर्मविशेषः प्रतिभाहेतुर्न युगपदनेकं प्रातिभं ज्ञानमुत्पादयति।

हेत्वभावादयुक्तमिति चेद्? न; करणस्य प्रत्ययपर्याये सामर्थ्यात्।

'उपभोगवन्नियमः' इत्यस्ति दृष्टान्तो हेतुर्नास्तीति चेन्मन्यसे? न; करणस्य प्रत्ययपर्याये सामर्थ्याद्। नैकस्मिन् ज्ञेये युगपदनेकं ज्ञानमुत्पद्यते, न चानेकस्मिन्। तदिदं दृष्टेन प्रत्ययपर्यायेणानुमेयं करणसामर्थ्यमित्थम्भूतमिति न ज्ञातुर्विकरणधर्मणो देहनानात्वे प्रत्यययौगपद्यादिति।

अयं च द्वितीयः प्रतिषेधः—अवस्थितशरीरस्य चानेकज्ञानसमवायादेकप्रदेशे युगपदने-

---

प्रातिभ ज्ञान स्मृत्यनुरूप ही है, वह प्रणिधानादि के विना ही संस्कारसहित आत्ममनःसंयोगमात्र से जो स्मृतियाँ उत्पन्न होती हैं वैसी अन्य स्मृतियाँ भी युगपत् सम्भव होने लगेंगी? अर्थात् जो प्रणिधानाद्यनपेक्ष स्मार्त ज्ञान प्रातिभ ज्ञान के सदृश उत्पन्न होता है, उनके हेतु (प्रणिधानादि) की अपेक्षा न होने से कदाचित् वैसी स्मृतियों की युगपदुत्पत्ति होने लगेगी? स्मृतिहेतु के असंवेदन (समझमें न आने) से स्मार्त ज्ञान में प्रातिभज्ञान के साथ तुल्यारोप है। पर अनेकार्थविषयक चिन्ता (अनुभवधारा) में कोई ही अर्थ किसी चिन्तन का स्मृतिहेतु बनता है, उसके अनुचिन्तन से उसकी स्मृति होती है, और स्मर्ता इस प्रकार सभी स्मृतिहेतुओं का तो संवेदन नहीं कर पाता कि 'मुझे ऐसी स्मृति उत्पन्न हुई है'। अतः असंवेदन से स्मार्तज्ञान भी प्रातिभज्ञान की तरह होता है—ऐसा वह अभिमान (भ्रम) करता है। वस्तुतः स्मार्त में भी सम्पूर्ण प्रणिधानादि की अपेक्षा रहती ही है।

प्रातिभ में क्या व्यवस्था रहती है? पुरुषकर्मविशेष से उपभोग की तरह उसमें नियम है।

अब प्रातिभज्ञान युगपत् उत्पन्न क्यों नहीं होता? जैसे उपभोगार्थक कर्म एक साथ उपभोग नहीं कराता, उसी तरह प्रतिभाहेतु पुरुषकर्मविशेष एक साथ अनेक प्रातिभज्ञानों को उत्पन्न नहीं कराता।

'हेतु के न होने से' यह आपकी उक्ति अयुक्त है? नहीं; क्योंकि करण में अनेक प्रत्यय एक साथ उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं होती। और उपर्युक्त 'उपभोगवन्नियमः' यह दृष्टान्त है, हेतु नहीं है—ऐसा आप नहीं कह सकते; क्योंकि हम अभी उत्तर दे चुके हैं कि करण (साधन) का क्रमिक ज्ञान में सामर्थ्य होता है। अनेक ज्ञान न तो एक ज्ञेय में युगपद् उत्पन्न हो सकते हैं, न अनेक में। इस लोकसिद्ध क्रमिकज्ञान से ऐसा ही करणसामर्थ्य अनुमित होता है। विकरणधर्मा (योगी) के अनेकदेह होने पर ज्ञानयौगपद्य दिखायी देता है। ज्ञाता होने की दशा में तो योगी को भी वैसा ज्ञानयौगपद्य नहीं होगा।

कार्थस्मरणं स्यात्। क्वचिद् देशेऽवस्थितशरीरस्य ज्ञातुरिन्द्रियार्थप्रबन्धेन ज्ञानमनेकमेकस्मिन्नात्मप्रदेशे समवैति। तेन यदा मनः संयुज्यते तदा ज्ञातपूर्वस्यानेकस्य युगपत् स्मरणं प्रसज्यते: प्रदेशसंयोगपर्यायाभावादिति। आत्मप्रदेशानामद्रव्यान्तरत्वादेकार्थसमवायस्याविशेषे स्मृतियौगपद्यप्रतिषेधानुपपत्तिः।

शब्दसन्ताने तु श्रोत्राधिष्ठानप्रत्यासत्त्या शब्दश्रवणवत् संस्कारप्रत्यासत्त्या मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गः। पूर्व एव तु प्रतिषेधो नानेकज्ञानसमवायादेकप्रदेशे युगपत् स्मृतिप्रसङ्ग इति॥ ३३॥

यत् 'पुरुषधर्मो ज्ञानमन्तःकरणस्येच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखानि धर्माः' इति कस्यचिद्दर्शनम्, तत् प्रतिषिध्यते—

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः॥ ३४॥

अयं खलु जानाति तावद्—इदं मे सुखसाधनमिदं मे दुःखसाधनमिति, ज्ञात्वा स्वस्य सुखसाधनमाप्तुमिच्छति, दुःखसाधनं हातुमिच्छति। प्राप्तीच्छाप्रयुक्तस्यास्य सुखसाधनावाप्तये समीहाविशेष आरम्भः, जिहासाप्रयुक्तस्य दुःखसाधनपरिवर्जनं निवृत्तिः, एवं ज्ञानेच्छाप्रयत्नद्वेषसुखदुःखानामेकेनाभिसम्बन्धः। एककर्तृकत्वं ज्ञानेच्छाप्रवृत्तीनां समानाश्रयत्वं च। तस्माद् ज्ञस्येच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखानि धर्माः, नाचेतनस्येति। आरम्भनिवृत्त्योश्च प्रत्यगात्मनि दृष्टत्वात् परत्रानुमानं वेदितव्यमिति॥ ३४॥

दूसरा प्रतिषेध यह है—अवस्थित शरीर ज्ञाता के अनेक ज्ञानसमवाय से एक प्रदेश में युगपद् अनेकार्थ का स्मरण हो सकता है। किसी देश में अवस्थित शरीरज्ञाता के इन्द्रियार्थसम्बन्ध से अनेक ज्ञान एक ही आत्मप्रदेश में समवेत हो जाते हैं। उससे जब मन संयुक्त होता है तब ज्ञातपूर्व अनेक अर्थ का युगपत् स्मरण प्रसक्त हो सकता है; प्रदेशसंयोग में अनेकोत्पत्ति का सामर्थ्य होने से। आत्मप्रदेश द्रव्यान्तर तो है नहीं, अतः एकार्थक समवाय का सम्बन्धसमानतया स्मृतियौगपद्यप्रतिषेध अनुपपन्न ही है।

शब्दसन्तान में तो शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से साक्षात् सम्बद्ध है, वही सुनायी देता है, न कि शब्दसन्तानगत समग्र शब्द; इसी तरह सहकारिकारणसंस्कारप्रत्यासत्ति से मन में स्मृति उत्पन्न होती है, अतः उसमें यौगपद्यप्रसङ्ग न होगा। एकदेशिमत का भी वही प्रतिषेध समझना चाहिये, जो हम पीछे (३.२.२६ में) कह आये हैं कि अनेकज्ञानसमवाय होने से एक प्रदेश में युगपत्स्मृतिप्रसङ्ग न होगा॥ ३३॥

'ज्ञान पुरुषधर्म है; इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख अन्तःकरण के धर्म हैं'—ऐसा कुछ विद्वान् (साङ्ख्यमतानुयायी) मानते हैं, सूत्रकार इस का खण्डन करते हैं—

इच्छा, द्वेषादि भी ज्ञाता के ही गुण हैं; क्योंकि अर्थ में प्रवृत्ति निवृत्ति उस ज्ञाता के ही इच्छाद्वेष के कारण होती हैं॥ ३४॥

यह ज्ञाता जानता है कि 'यह मेरे लिये सुखसाधन है, यह दुःखसाधन है', ऐसा जानकर वह सुखसाधन को पाना चाहता है, तथा दुःखसाधन को छोड़ देना चाहता है। पाने की इच्छा से युक्त इस सुखसाधन की प्राप्ति के लिये समीहाविशेष को 'आरम्भ' कहते हैं। और जिहासाप्रयुक्त दुःखसाधन का परिवर्जन 'निवृत्ति' कहलाता है। इस प्रकार ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, द्वेष एवं सुख दुःखों का एक (ज्ञाता) से ही अभिसम्बन्ध बनता है। ज्ञानेच्छादिकों का एककर्तृकत्व तथा सामानाधिकरण्य है, अतः

अत्र भूतचैतनिकः[1] आह—

तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ?॥ ३५॥

आरम्भनिवृत्तिलिङ्गाविच्छाद्वेषाविति यस्यारम्भनिवृत्ती तस्येच्छाद्वेषौ तस्य ज्ञानमिति प्राप्तम्—पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानां शरीराणामारम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषज्ञानैर्योग इति चैतन्यम् ?॥ ३५॥

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात्॥ ३६॥

शरीरे चैतन्यनिवृत्तिः। आरम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषज्ञानैर्योग इति प्राप्तं परश्वादेः करणस्यारम्भनिवृत्तिदर्शनाच्चैतन्यमिति। अथ शरीरस्येच्छादिभिर्योगः, परश्वादेस्तु करणस्यारम्भनिवृत्ती व्यभिचरतः ? न तर्हीयं हेतुः—'पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानां शरीराणामारम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषज्ञानैर्योगः' इति।

अयं तर्ह्यन्योऽर्थः—तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः। पृथिव्यादीनां भूतानामारम्भस्तावत्त्रसस्थावरशरीरेषु तदवयवव्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेषः, लोष्टादिषु च लिङ्गाभावात् प्रवृत्तिविशेषाभावो निवृत्तिः, आरम्भनिवृत्तिलिङ्गाविच्छाद्वेषाविति। पार्थिवाद्यण्वणुषु तद्दर्शनादिच्छाद्वेषयोगः, तद्योगाज् ज्ञानयोग इति सिद्धं भूतचैतन्यमिति ?

ज्ञाता के ही इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःखादि धर्म हैं, अचेतन के नहीं। यों यह प्रवृत्ति निवृत्ति जीवात्मा में प्रमाण से जान लेने के बाद परमात्मा में भी अनुमान प्रमाण से समझ लेनी चाहिये॥ ३४॥

यहाँ **भूतचैतनिक चार्वाक** कहता है—

इच्छा द्वेष के शरीरनिमित्तिक होने से पार्थिवादि देहों में चैतन्यप्रतिषेध नहीं बनता ?॥ ३५॥

'इच्छा, द्वेष आरम्भ एवं निवृत्ति के हेतु हैं'—इस सिद्धान्त से जिसके आरम्भ-निवृत्ति होंगे, उस के इच्छा द्वेष हैं तथा उसी का ज्ञान होना चाहिये; तब पार्थिव, आप्य, तैजस, वायवीय शरीरों का भी आरम्भ या निवृत्ति देखे जाने से इच्छा द्वेषादि का योग भी उन्हीं के साथ होगा, तब ज्ञान भी उन्हीं को होना चाहिये, तो क्यों न उन शरीरों में ही चैतन्य मान लें ?॥ ३५॥

परशुआदि में भी आरम्भनिवृत्ति देखे जाने से॥ ३६॥

शरीरों में चैतन्य नहीं मानना चाहिये। यदि चार्वाक यह सिद्धान्त बनायगा कि 'जिसमें आरम्भ, निवृत्ति देखे जाय उसी का इच्छा द्वेष तथा ज्ञान से सम्बन्ध होगा' तो परशु (कुठार) आदि साधनों की भी आरम्भ निवृत्ति देखे जाने से उसे भी चैतन्य मानना पड़ेगा। यदि कहें कि शरीर का इच्छा द्वेषादि से ही सम्बन्ध होता है, परश्वादि साधनों की आरम्भ निवृत्ति तो कहीं कहीं व्यभिचरित भी देखी जाती है ? तो यह कोई हेतु नहीं बना, तथा इसी परश्वादि दृष्टान्त से आपका यह सिद्धान्त भी व्यभिचरित हो जायगा कि पार्थिव, आप्य, तैजस, वायवीय शरीरों की आरम्भ निवृत्ति देखे जाने से उनका इच्छा, द्वेष तथा ज्ञान से सम्बन्ध है।

शङ्का—हमारे सिद्धान्तवाक्य का आपने अर्थ ठीक नहीं समझा। उसका अर्थ यह है—पृथिव्यादि भूतों में उनके अस्थिर स्थावर शरीरों में तदवयवव्यूहहेतु से प्रवृत्तिविशेष ज्ञात होता है। तथा लोष्टादिक में वह हेतु न होने से प्रवृत्तिविशेषाभावरूप निवृत्ति ज्ञात होती है। इच्छाद्वेषादिक आरम्भ निवृत्ति हेतु से निर्णीत है। पार्थिवादि अणुओं में वह हेतु देखा जाने से उनसे इच्छाद्वेष का सम्बन्ध तथा उससे ज्ञान का सम्बन्ध है। अतः भूतचैतन्य सिद्ध हो जाता है ?

---

१. 'ज्ञानेच्छादीनां पार्थिवमिदं शरीरमेवाधिकरणम्' इति भूतचैतन्यवादी चार्वाक इत्यर्थः।

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः[1]। कुम्भादिमृदवयवानां व्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेष आरम्भः, सिकतादिषु प्रवृत्तिविशेषाभावो निवृत्तिः। न च मृत्सिकतानामारम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषप्रयत्नज्ञानैर्योगः, तस्मात् 'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः' इत्यहेतुरिति ॥ ३६ ॥

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥ ३७ ॥

तयोरिच्छाद्वेषयोर्नियमानियमौ विशेषकौ=भेदकौ। ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्ते प्रवृत्ति-निवृत्ती, न स्वाश्रये। किं तर्हि? प्रयोज्याश्रये। तत्र प्रयुज्यमानेषु भूतेषु प्रवृत्तिनिवृत्ती स्तः, न सर्वेष्वित्यनियमोपपत्तिः।

यस्य तु ज्ञत्वाद् भूतानामिच्छाद्वेषनिमित्ते आरम्भनिवृत्ती स्वाश्रये तस्य नियमः स्यात्, यथा-भूतानां गुणान्तरनिमित्ता प्रवृत्तिर्गुणप्रतिबन्धाच्च निवृत्तिर्भूतमात्रे भवति नियमेन; एवं भूतमात्रे ज्ञानेच्छाद्वेषनिमित्ते प्रवृत्तिनिवृत्ती स्वाश्रये स्याताम्! न तु भवतः। तस्मात् प्रयोजकाश्रिता ज्ञानेच्छाद्वेषप्रयत्नाः, प्रयोज्याश्रये तु प्रवृत्तिनिवृत्ती इति सिद्धम्।

एकशरीरे तु ज्ञातृबहुत्वं निरनुमानम्। भूतचैतनिकस्यैकशरीरे बहूनि भूतानि ज्ञानेच्छाद्वेषप्रयत्नगुणानीति ज्ञातृबहुत्वं प्राप्तम्। ओमिति ब्रुवतः प्रमाणं नास्ति। यथा नानाशरीरेषु नानाज्ञातारो बुद्ध्यादिगुणव्यवस्थानात्, एवमेकशरीरेऽपि बुद्ध्यादिव्यवस्थानुमानं स्याज्ज्ञातृबहुत्वस्येति।

—कुम्भादि में उक्त साध्य की अनुपलब्धि होने से वह अहेतु है।

कुम्भादि के मृत्तिकावयवों में उनके आकृतिहेतु प्रवृत्तिविशेष 'आरम्भ', तथा सिकता (बालुका) में उस प्रवृत्तिविशेष का अभाव ही 'निवृत्ति' कहलाती है। उन मृत्सिकतादिकों में प्रवृत्ति निवृत्ति देखी जाने पर भी, इच्छाद्वेषादि या ज्ञान से उनका सम्बन्ध नहीं देखा जाता। अत: 'इच्छा द्वेष आरम्भप्रवृत्तिनिमित्तक हैं'—यह आपका कहना अहेतुक है ॥ ३६ ॥

नियम तथा अनियम तो उनके भेदक हैं ॥ ३७ ॥

इच्छाद्वेषों के नियम, अनियम तो ज्ञ तथा अज्ञ के भेदक हैं। प्रवृत्ति निवृत्ति ज्ञाता के इच्छाद्वेषनिमित्तक हैं। आप उन्हें स्वाश्रय (ज्ञ के आश्रित) नहीं कह सकते; वे तो प्रयोज्याश्रय हैं। जो भूत प्रयुज्यमान होंगे, उनमें ही प्रवृत्ति निवृत्ति होगी, सब में नहीं; अत: नियम नहीं बन सकता।

जिस (चार्वाक) के मत में ज्ञाता होने से भूतों की इच्छाद्वेषनिमित्तक प्रवृत्ति निवृत्ति है, उसके यहाँ नियम बन सकता है। जैसे भूतसामान्य में गुरुत्वादि गुणान्तरनिमित्तक प्रवृत्ति तथा इसी गुणप्रतिबन्ध से नियमत: भूतमात्र में निवृत्ति देखी जाती है। इसी तरह भूतमात्र में ज्ञानेच्छाद्वेषनिमित्तक प्रवृत्ति निवृत्ति स्वाश्रय होने से होने लगेंगी, जब कि होती नहीं है। अत: यही मानना चाहिये कि ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न प्रयोजक (ज्ञाता) के आश्रित हैं, तथा प्रवृत्ति निवृत्ति प्रयोज्य (भूतादि) के आश्रित हैं।

एक शरीर में अनेक ज्ञाता किसी भी अनुमान से सिद्ध नहीं किये जा सकते। भूतचैतन्यवादी के मत में बहुत से भूत ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न गुणवाले हैं, अत: अनेक ज्ञाता होने लगेंगे। यदि वह उनका अनेकत्व स्वीकार करता है तो उसकी इस स्वीकृति में कोई प्रमाण नहीं है। जैसे अनेक शरीरों में बुद्ध्यादिगुणव्यवस्था से अनेक ज्ञाता होते हैं; वैसे ही एक में भी बुद्ध्यादिव्यवस्था से अनेक ज्ञाताओं का अनुमान होने लगेगा।

---

१. न्यायसूचीनिबन्धे नैतत् सूत्रत्वेन परिगणितम्, नापि वृत्तिकृता व्याख्यातम्, अतो नेदं सूत्रम्।

दृष्टश्चान्यगुणनिमित्तः प्रवृत्तिविशेषो भूतानाम्, सोऽनुमानमन्यत्रापि। दृष्टः करणलक्षणेषु भूतेषु परश्वादिषु उपादानलक्षणेषु च मृत्प्रभृतिष्वन्यगुणनिमित्तः प्रवृत्तिविशेषः। सोऽनुमानमन्यत्रापि—त्रसत्स्थावरशरीरेषु तदवयव्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेषो भूतानामन्यगुणनिमित्त इति। स च गुणः प्रयत्नसमानाश्रयः संस्कारो धर्माधर्मसमाख्यातः सर्वार्थः, पुरुषार्थाराधनाय प्रयोजको भूतानां प्रयत्नवदिति।

आत्मास्तित्वहेतुभिरात्मनित्यत्वहेतुभिश्च भूतचैतन्यप्रतिषेधः कृतो वेदितव्यः। 'नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात्' (३.२.१८) इति च समानः प्रतिषेध इति। क्रियामात्रं क्रियोपरममात्रं चारम्भनिवृत्ती इत्यभिप्रेत्योक्तम्-'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः' (३.२.३५)। अन्यथा त्विमे आरम्भनिवृत्ती आख्याते, न च तथाविधे पृथिव्यादिषु दृश्येते, तस्मादयुक्तम्-'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः' इति ॥ ३७ ॥

भूतेन्द्रियमनसां समानः प्रतिषेधः, मनस्तूदाहरणमात्रम्।

यथोक्तहेतुत्वात् पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ॥ ३८ ॥

'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्' (१.१.१०) इत्यतः प्रभृति यथोक्तं संगृह्यते, तेन भूतेन्द्रियमनसां चैतन्यप्रतिषेधः।

भूतों का अन्यगुणनिमित्तक प्रवृत्तिविशेष देखा गया है, वह अन्यत्र भी अनुमान करा देगा। करणलक्षण परशु आदि तथा उपादानलक्षण मृदादि भूतों में अन्यगुणनिमित्तक प्रवृत्तिविशेष देखा जाता है, तन्मूलक ही यह अनुमान होता है कि प्राणियों के अस्थिर शरीरों में भूतों का तदवयवव्यूहलिङ्गक प्रवृत्तिविशेष अन्यगुणनिमित्तक ही है। वह गुण प्रयत्नसमानाधिकरण धर्माधर्माख्य संस्कारविशेष ही है। वह पुरुषसम्बद्ध सकलार्थप्रयोजक पुरुषार्थ सम्पादन के लिये भूतों का प्रयोजक है। जैसे पुरुष का प्रयत्न तत्तदर्थ सम्पादन के लिये भूतों को प्रेरणा देता है, उसी तरह तद्गत धर्माधर्मरूप संस्कार भी प्रेरणा देता है।

इसी प्रकार, आत्मास्तित्वसाधक तथा आत्मनित्यत्वसाधक हेतुओं से भी भूतचैतन्य का प्रतिषेध समझना चाहिये। 'इन्द्रिय-अर्थ को बुद्धि नहीं कह सकते; क्योंकि उनके विनाश पर भी ज्ञानस्थिति देखी जाती है' (३.२.१८)—यह प्रतिषेध भी भूतचैतन्याभाव का ही समर्थन करता है। क्रिया तथा क्रियोपरममात्र को आरम्भ निवृत्ति समझ कर पूर्वपक्षी ने कह दिया था कि 'तल्लिङ्ग होने से इच्छाद्वेष का पार्थिवादि में प्रतिषेध नहीं बनता' (३.२.३५)। अन्यथा हमारे मत में हितप्राप्ति तथा अहितपरिहार के लिये चेष्टा(प्रयत्न)विशेष आरम्भ, निवृत्ति कहलाते हैं। इस लक्षणवाले आरम्भ तथा निवृत्ति भूतों में दिखायी नहीं देते। अत: यह कहना असमीचीन ही है कि 'तल्लिङ्ग होने से पार्थिवादि में प्रतिषेध नहीं बनता'॥ ३७॥

बुद्धि के आश्रितत्व के विषय में भूत, इन्द्रिय तथा मन का प्रतिषेध समान ही है; मन तो एक उदाहरणमात्र है।

यथोक्त हेतुओं से, पारतन्त्र्य से, तथा अकृताभ्यागम दोष से बुद्धि मन का (गुण नहीं हो सकती)॥ ३८॥

'यथोक्त' का तात्पर्य 'इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख, ज्ञान को ही आत्मा का हेतु समझें' (१.१.१०) इत्यादि सूत्र से है। उक्त हेतुओं से भूत, इन्द्रिय, तथा मन का चैतन्य प्रतिषिद्ध समझना चाहिये।

पारतन्त्र्यात्। परतन्त्राणि भूतेन्द्रियमनांसि धारणप्रेरणव्यूहनक्रियासु प्रयत्नवशात् प्रवर्तन्ते, चैतन्ये पुनः स्वतन्त्राणि स्युरिति।

अकृताभ्यागमाच्च।'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' (१.१.१७) इति चैतन्ये भूतेन्द्रियमनसां परकृतं कर्म पुरुषेणोपभुज्यत इति स्यात्। अचैतन्ये तु तत्साधनस्य स्वकृतकर्मफलोपभोगः पुरुषस्येत्युपपद्यत इति॥ ३८॥

अथायं सिद्धोपसङ्ग्रहः—

परिशेषाद् यथोक्तहेतूपपत्तेश्च॥ ३९॥

आत्मगुणो ज्ञानमिति प्रकृतम्। **परिशेषो** नाम 'प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः' (१.१.५ सू० भा०)। भूतेन्द्रियमनसां प्रतिषेधे द्रव्यान्तरं न प्रसज्यते, शिष्यते चात्मा, तस्य गुणो ज्ञानमिति ज्ञायते।

यथोक्तहेतूपपत्तेश्चेति। 'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' (३.१.१) इत्येवमादीनामात्मप्रतिपत्तिहेतूनामप्रतिषेधादिति।

परिशेषज्ञापनार्थं प्रकृतस्थापनादिज्ञानार्थं च यथोक्तहेतूपपत्तिवचनमिति।

पारतन्त्र्य हेतु से भी इनमें चैतन्य का प्रतिषेध समझें। भूत, इन्द्रिय तथा मन परतन्त्र हैं, वे किसी अन्य के प्रयत्न के धारण, प्रेरण तथा व्यूहन (संग्रह) क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं। इनको चैतन्य मानने पर ये स्वतन्त्र होने लगेंगे।

अकृताभ्यागम दोष से भी बुद्धि मन का गुण नहीं है।''वाणी, बुद्धि तथा शरीर से किये जाने वाले कार्यों का आरम्भ 'प्रवृत्ति' कहलाता है'' (१.१.१७) यह पहले कह आये हैं, इस स्थिति में शरीरादि को चैतन्य मानने पर चेतन के स्वतन्त्र होने से वे ही कर्ता हो जायँगे, तब शरीरनाश के बाद परलोक का फलभोग कैसे सम्भव होगा! अन्यथा दूसरे के कर्म का दूसरा उपभोग करेगा। शरीरादि को अचेतन मानने पर स्वकृत कर्म का फलभोग पुरुष (आत्मा) को उपपन्न होगा, क्योंकि वह नित्य है॥ ३८॥

अब इस समस्त प्रकरण का उपसंहार यह है—

परिशेष से तथा यथोक्त हेतुओं द्वारा उपपादन से॥ ३९॥

ज्ञान आत्मा का ही गुण है। 'परिशेष' से तात्पर्य है 'प्रसक्त का निषेध कर दिये जाने पर, अन्यत्र प्रसङ्ग प्राप्त न होने से अवशिष्ट को मान लेना'। यहाँ साधक हेतुओं से भूत, इन्द्रिय तथा मन का बुद्धिगुणत्व प्रतिषिद्ध कर दिया गया, तब द्रव्यान्तर में यह गुण प्रसक्त नहीं हो सकता, अब शेष बच गया—आत्मा, अतः यह सिद्ध हुआ कि बुद्धि आत्मा का ही गुण है।

यथोक्त हेतुओं के उपपादन से भी।'दर्शन स्पर्शन द्वारा एक ही अर्थ के ग्रहण से' (३.१.१) इत्यादि आत्मप्रतिपादक हेतुओं के, प्रतिपक्षियों द्वारा खण्डित न किये जाने से भी बुद्धि आत्मा का गुण सिद्ध होती है।

अथवा—परिशेषज्ञापन कराने के लिये सूत्र में 'यथोक्तहेतु' शब्द का प्रयोग है। अर्थात् तृतीयाध्याय-प्रथमाह्निक (३.१.१) हेतु आत्मा के साधक हैं। अथ च प्रकृत (बुद्धि का आत्मगुणत्व) स्थापनादिज्ञान के लिये 'उपपत्ति' शब्द का प्रयोग है, अर्थात् बुद्धि को आत्मगुण मानने में भी ये हेतु खण्डित नहीं होते।

अथवा—**उपपत्तेश्चेति** हेत्वन्तरमेवेदम्। नित्यः खल्वयमात्मा, यस्मादेकस्मिन् शरीरे धर्मं चरित्वा कायभेदात् स्वर्गे देवेषूपपद्यते, अधर्मं चरित्वा देहभेदाद् नरकेषूपपद्यते इति। उपपत्तिः शरीरान्तरप्राप्तिलक्षणा, सा सति सत्त्वे नित्ये चाश्रयवती, बुद्धिप्रबन्धमात्रे तु निरात्मके निराश्रया नोपपद्यते इति। एकसत्त्वाधिष्ठानश्चानेकशरीरयोगः संसार उपपद्यते, शरीरप्रबन्धोच्छेदश्चापवर्गो मुक्तिरित्युपपद्यते। बुद्धिसन्ततिमात्रे त्वेकसत्त्वानुपपत्तेर्न कश्चिद्दीर्घमध्वानं सन्धावति, न कश्चिच्छरीरप्रबन्धाद्विमुच्यत इति संसारापवर्गानुपपत्तिरिति। बुद्धिसन्ततिमात्रे च सत्त्वभेदात् सर्वमिदं प्राणिव्यवहारजातमप्रतिसंहितमव्यावृत्तमपरिनिष्ठितं च स्यात्। ततः स्मरणाभावः, नान्यदृष्टमन्यः स्मरतीति। स्मरणं च खलु पूर्वज्ञातस्य समानेन ज्ञात्रा ग्रहणम्—'अज्ञासिषममुमर्थं ज्ञेयम्'। इति सोऽयमेको ज्ञाता पूर्वज्ञातमर्थं गृह्णाति, तच्चास्य ग्रहणं स्मरणमिति, तद् बुद्धिप्रबन्धमात्रे निरात्मके नोपपद्यते॥ ३९॥

स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्॥ ४०॥

उपपद्यते इति। आत्मन एव स्मरणम्, न बुद्धिसन्ततिमात्रस्येति। तुशब्दोऽवधारणे। कथम्? ज्ञस्वाभाव्यात्। ज्ञ इत्यस्य स्वभावः स्वो धर्मः, अयं खलु 'ज्ञास्यति, जानाति, अज्ञासीत्' इति त्रिकालविषयेणानेकेन ज्ञानेन सम्बध्यते, तच्चास्य त्रिकालविषयं ज्ञानं प्रत्यात्मवेदनीयम्—'ज्ञास्यामि, जानामि, अज्ञासिषम्' इति वर्तते, तद्यस्यायं स्वो धर्मस्तस्य स्मरणम्, न बुद्धिप्रबन्धमात्रस्य निरात्मकस्येति॥ ४०॥

अथवा—**'उपपत्ति से'**—यह एक पृथक् हेतु ही है। 'यह आत्मा नित्य है, क्योंकि एक शरीर में धर्म का आचरण करके शरीर के विनष्ट होने पर स्वर्ग में देवताओं के बीच शरीरान्तर उपपन्न होता है, अधर्म का आचरण करके देहनाश के बाद नरक में शरीरान्तर उपपन्न होता है।' यहाँ उक्त स्वर्गीय नारकीय शरीरों की प्राप्ति ही आत्मा की 'उपपत्ति' है। वह किसी नित्य सत्त्व (द्रव्य) को ही अपना आधार बना सकती है। बुद्धिसन्तानमात्र मानने पर निरात्मक में आश्रयहीन होकर वह कैसे उपपन्न हो सकेगी! अनेक शरीर-सम्बन्ध वाला एकसत्त्वाश्रय ही 'संसार' कहलाता है, शरीरसम्बन्धोच्छेदरूप अपवर्ग 'मोक्ष' कहलाता है। बुद्धिसन्तानमात्र मानने पर एक सत्त्व की उपपत्ति न होने से न कोई लम्बे रास्ते (शरीर से शरीरान्तर) चलेगा, न कोई शरीरसम्बन्ध से मुक्त होगा, यों संसार तथा मोक्ष—दोनों की ही उपपत्ति न बनेगी। तथा बुद्धिसन्तानमात्र मानने पर सत्त्वभेद से यह सारा प्राणियों का व्यवहार असम्भव, एक दूसरे से न जुड़ा हुआ, अव्यावृत तथा अपरिनिष्ठित (अव्यवस्थित) होने लगेगा। तब स्मरणाभाव भी होगा; क्योंकि अन्य दृष्ट का अन्य स्मरण नहीं करता। स्मरण कहते हैं—'एक ज्ञाता को पूर्व ज्ञात का ज्ञान होना' कि 'इस जाने हुए अर्थ को मैं जानता था।' यह एक ही ज्ञाता जिस पूर्व ज्ञात अर्थ को ग्रहण करता है वह ग्रहण 'स्मरण' कहलाता है। वह स्मरण निरात्मक बुद्धिसन्तानमात्र में उपपन्न नहीं होता॥ ३९॥

ज्ञातृस्वभाव होने से आत्मा को स्मरण॥ ४०॥

उपपन्न हो सकता है। आत्मा को ही स्मरण होता है, बुद्धिसन्तानमात्र को नहीं। सूत्र में 'तु' शब्द निश्चयार्थक है। क्यों? ज्ञस्वभाव ज्ञाता का अपना धर्म है, वह 'जानेगा', 'जानता है', 'जानता था'—इस त्रिकालविषयक अनेक ज्ञान से सम्बद्ध होता है। यह त्रिकालविषयक ज्ञान 'जानूँगा' 'जानता हूँ' 'जानता था'—ऐसा प्रत्यात्मवेदनीय (प्रतिव्यक्ति को अनुभवसिद्ध) होता है। जिसका यह स्वधर्म है वही स्मरण करता है, न कि निरात्मक बुद्धिसन्तानमात्र॥ ४०॥

स्मृतिहेतूनामयौगपद्याद्युगपदस्मरणमित्युक्तम्। अथ केभ्यः स्मृतिरुत्पद्यत इति? स्मृतिः खलु—

प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयाऽर्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः॥ ४१॥

सुस्मूर्षया मनसो धारणं **प्रणिधानं** सुस्मूर्षितलिङ्गचिन्तनं चार्थस्मृतिकारणम्। **निबन्धः** खल्वेकग्रन्थोपयमोऽर्थानाम्, एकग्रन्थोपयताः खल्वर्था अन्योऽन्यस्मृतिहेतव आनुपूर्व्येणेतरथा वा भवन्तीति। धारणाशास्त्रकृतो[1] वा प्रज्ञातेषु वस्तुषु स्मर्तव्यानामुपनिःक्षेपो निबन्ध इति। **अभ्यासस्तु** समाने विषये ज्ञानानामभ्यावृत्तिः, अभ्यासजनितः संस्कार आत्मगुणोऽभ्यासशब्देनोच्यते, स च स्मृतिहेतुः समान इति। **लिङ्गं** पुनः संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि चेति। यथा—धूमोऽग्नेः, गोर्विषाणम्, पाणिः पादस्य, रूपं स्पर्शस्य, अभूतं भूतस्येति। **लक्षणं** पश्ववयवस्थं गोत्रस्य स्मृतिहेतुः—बिदानामिदम्, गर्गाणामिदमिति। **सादृश्यं** चित्रगतं प्रतिरूपकं देवदत्तस्येत्येवमादि। **परिग्रहात्**—स्वेन वा स्वामी, स्वामिना वा स्वं स्मर्यते। **आश्रयाद्**—ग्रामण्या तदधीनं संस्मरति। **आश्रितात्** तदधीनेन ग्रामण्यमिति। **सम्बन्धात्**—अन्तेवासिना युक्तं गुरुं स्मरति, ऋत्विजा याज्यमिति। **आनन्तर्यादिति** करणीयेष्वर्थेषु।

स्मृतिहेतुओं में यौगपद्य न रहने से युगपद् स्मरण नहीं होता—यह पहले कह आये हैं। यह स्मृति—

प्रणिधान, निबन्ध, अभ्यास, लिङ्ग, लक्षण, सादृश्य, परिग्रह, आश्रय, आश्रित, सम्बन्ध, आनन्तर्य, वियोग, एककार्य, विरोध, अतिशय, प्राप्ति, व्यवधान, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, भय, अर्थित्व, क्रिया, राग, धर्म, अधर्म (इन २५ निमित्तों से होती है)॥ ४१॥

स्मरण करने की इच्छा से मन को एक में धारण करना, अर्थात् उस सुस्मूर्षा-विषय के अतिरिक्त अन्यत्र गये मन को निवारण करना 'प्रणिधान' कहलाता है। सुस्मूर्षित के चिह्न का चिन्तन भी अर्थ का स्मरण करता है। एक ग्रन्थ में आये हुए अर्थ (विषय), जैसे इसी ग्रन्थ में प्रमाणादि पदार्थ, 'निबन्ध' कहलाते हैं। एक ग्रन्थ में आये हुए पदार्थ अनुक्रम या व्युत्क्रम से अन्योन्यस्मृतिहेतु होते हैं। जैगीषव्यादि महर्षि प्रोक्त 'धारणाशास्त्र', तत्कृत प्रज्ञातवस्तुओं में स्मर्तव्य विषयों का समारोप भी 'निबन्ध' है, वह स्मृतिहेतु होता है। समान विषयों में ज्ञान को बार बार दुहराने को 'अभ्यास' कहते हैं। अभ्यासजनित संस्कार जो कि आत्मगुण है, 'अभ्यास' कहलाता है। वह भी स्मृतिहेतु है। 'लिङ्ग' कहते हैं—संयोगिद्रव्य या समवायी या एक अर्थ में समवेत होता हो, या विरोधी हो। क्रमशः उदाहरण, जैसे—धूम अग्नि का लिङ्ग है, शृंग गौ का, हाथ पैर का या रूप स्पर्श का, वैसे ही अभूत भूत का। 'लक्षण' पश्ववयवस्थ गोत्र (वंश) की स्मृति का हेतु होता है, जैसे 'यह बिदों का' 'यह गर्गों का'। 'सादृश्य'—जैसे देवदत्त की चित्रगत प्रतिकृति। 'परिग्रह' स्मृति कहलाता है, जैसे—स्व से स्वामी का, या स्वामी से स्वस्मरण। 'आश्रय' से—ग्रामनेता से उसके अधीन का स्मरण। 'आश्रित' से—उसके अधीन से ग्रामनेता का स्मरण। 'सम्बन्ध' से—अन्तेवासी (छात्र) से युक्त गुरु का, या

1. ''धारणाशास्त्रं जैगीषव्यादिप्रोक्तम्, तत्कृतौ ज्ञातेषु वस्तुषु नाडीचक्रहृत्पुण्डरीककण्ठकूपनासाग्रललाटब्रह्मरन्ध्रादिषु स्मर्तव्यानां बीजाक्षरसंख्यानामाभरणभूतानां देवतानामुपनिक्षेपः समारोपः। तथा च तत्र देवताः समारोपितास्तत्तदवयवग्रहणात् स्मर्यन्ते इत्यर्थः''—इति तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः।

वियोगाद्—येन विप्रयुज्यते तद्वियोगप्रतिसंवेदी भृशं स्मरति। **एककार्यात्**—कर्त्रन्तरदर्शनात् कर्त्रन्तरे स्मृतिः। **विरोधात्**—विजिगीषमाणयोरन्यतरदर्शनादन्यतरः स्मर्यते। **अतिशयाद्**—येनातिशय उत्पादितः। **प्राप्तेः**—यतोऽनेन किञ्चित्प्राप्तमाप्तव्यं वा भवति तमभीक्ष्णं स्मरति। **व्यवधानात्**—कोशादिभिरसिप्रभृतीनि स्मर्यन्ते, सुखदुःखाभ्यां तद्धेतुः स्मर्यते। इच्छाद्वेषाभ्यां यमिच्छति यं च द्वेष्टि तं स्मरति। **भयाद्**—यतो बिभेति। अर्थित्वाद्—येनार्थी भोजनेनाच्छादनेन वा। **क्रियया**—रथेन रथकारं स्मरति। **रागाद्**—यस्यां स्त्रियां रक्तो भवति तामभीक्ष्णं स्मरति। **धर्मात्**—जात्यन्तरस्मरणमिह चाधीतश्रुतावधारणमिति। **अधर्मात्**—प्रागनुभूतदुःखसाधनं स्मरति। न चैतेषु निमित्तेषु युगपत्संवेदनानि भवन्तीति युगपदस्मरणमिति। निदर्शनं चेदं स्मृतिहेतूनाम्, न परिसंख्यानमिति॥ ४१॥

बुद्धेरुत्पन्नापवर्गित्वपरीक्षाप्रकरणम् [४२-४५]

अनित्यायां च बुद्धौ उत्पन्नापवर्गित्वात् कालान्तरावस्थानाच्चानित्यानां संशयः—किमुत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिः शब्दवत्? आहोस्वित् कालान्तरावस्थायिनी कुम्भवदिति?

उत्पन्नापवर्गिणीति पक्षः परिगृह्यते। कस्मात्?—

कर्मानवस्थायिग्रहणात्॥ ४२॥

कर्मणोऽनवस्थायिनो ग्रहणादिति। क्षिप्तस्येषोरापतनात् क्रियासन्तानो गृह्यते, प्रत्यर्थ-

ऋत्विज से याज्य का स्मरण। 'आनन्तर्य' से भी कर्तव्यविषयक स्मरण होता है। 'वियोग' से—जिससे वियुक्त हुआ जाता है, वह वियोगप्रतिसंवेदी अत्यधिक स्मरण आता है। 'एककार्य' से—अन्यकर्ता के दर्शन से अन्यकर्ता की स्मृति होती है। 'विरोध' से—विजय के इच्छुक किन्हीं दो में एक को देखकर दूसरे का स्मरण। 'अतिशय' से—जिसके द्वारा अतिशय उत्पन्न किया गया हो। 'प्राप्ति' से—जिसको जिससे कुछ प्राप्त हो या प्राप्त करना हो वह उसे सतत स्मरण करता है। 'व्यवधान' से—जैसे म्यान से तलवार का स्मरण आना या सुख दुःख से उसके हेतु का स्मरण होना। 'इच्छा' या 'द्वेष' से—जिसकी इच्छा करता है या जिससे द्वेष करता है, उसे निरन्तर स्मरण रखता है। 'भय' से—जिससे डरता हो वह भी स्मृत रहता है। 'अर्थित्व' से—जिसकी चाह हो भोजन या वस्त्र से, वह भी सतत स्मरण रहता है। 'क्रिया' से—रथ को देखकर उसके निर्माता रथकार का स्मरण। 'राग' से—जैसे जिस स्त्री में जिसका राग हो वह उस स्त्री को सदा स्मरण रखता है। 'धर्म से'—जैसे इस जन्म में जात्यन्तर का स्मरण या अधिक श्रुत का अवधारण होता है। 'अधर्म से'—जैसे पहले अनुभव किये दुःख के कारणों को स्मरण करता है।

इन हेतुओं के रहने में युगपत्संवेदन नहीं होता, अतः स्मृति युगपत् नहीं हो सकती। स्मृति हेतुओं का यह निदर्शनमात्र है, परिगणन नहीं। अतः उन्मादादि लोकसिद्ध अन्य हेतुओं का भी यहाँ ग्रहण कर लेना चाहिये॥ ४१॥

अनित्य बुद्धि में उत्पन्नविनाशित्व होने से तथा साथ ही कालान्तरावस्थिति से अनित्यों में संशय होता है कि क्या यह बुद्धि शब्द की तरह उत्पन्नविनाशी है, या कुम्भ की तरह कालान्तरावस्थायी है?।

पहले उत्पन्नविनाशी पक्ष पर विचार करते हैं; क्योंकि—

अनवस्थायी कर्म का ग्रहण होता है॥ ४२॥

नियमाच्च बुद्धीनां क्रियासन्तानवद् बुद्धिसन्तानोपपत्तिरिति। अवस्थितग्रहणे च व्यवधीय-मानस्य प्रत्यक्षनिवृत्तेः। अवस्थिते च कुम्भे गृह्यमाणे सन्तानेनैव बुद्धिर्वर्तते प्राग् व्यवधानात्, तेन व्यवहितं प्रत्यक्षं ज्ञानं निवर्तते। कालान्तरावस्थाने तु बुद्धेर्दृश्यव्यवधानेऽपि प्रत्यक्षमव-तिष्ठेतेति। स्मृतिश्चालिङ्गं बुद्ध्यवस्थाने; संस्कारस्य बुद्धिजस्य स्मृतिहेतुत्वात्।

यश्च मन्येत-अवतिष्ठते बुद्धिः, दृष्टा हि बुद्धिविषये स्मृतिः, सा च बुद्धावनित्यायां कारणाभावान्न स्यादिति? तदियमलिङ्गम्। कस्मात्? बुद्धिजो हि संस्कारो गुणान्तरं स्मृतिहेतुः, न बुद्धिरिति।

हेत्वभावादयुक्तमिति चेत्? बुद्ध्यवस्थानात् प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यभावः।

यावदवतिष्ठते बुद्धिस्तावदसौ बोद्धव्यार्थः प्रत्यक्षः, प्रत्यक्षे च स्मृतिरनुपपन्नेति॥ ४२॥

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद् विद्युत्सम्पाते रूपाद्यव्यक्तग्रहणवत्॥ ४३॥

यद्युत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिः; प्राप्तमव्यक्तं बोद्धव्यस्य ग्रहणम्, यथा विद्युत्सम्पाते वैद्युतस्य प्रकाशस्यानवस्थानादव्यक्तं रूपग्रहणमिति। व्यक्तं तु द्रव्याणां ग्रहणम्, तस्माद-युक्तमेतदिति?॥ ४३॥

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा॥ ४४॥

जैसे—फेंके गये तीर की भूमिपतनावधिपर्यन्त क्रिया की अनेक धाराएँ गृहीत होती हैं, उसी तरह बुद्धि भी, प्रत्यर्थनियत (अर्थ रहने तक) होने से अनेक क्रियाओं की तरह उपपन्न होती है। अतः यह आशुतरविनाशिनी है। अवस्थित घटादि के ग्रहण में तो यह प्रक्रिया है कि जब तक कोई व्यवधान न आ जाय तब तक वे उपस्थित रहते हैं, जब कोई व्यवधान आ जाता है तो उनका प्रत्यक्ष निवृत्त हो जाता है। बुद्धि तो सन्तत धारा से घट के अव्यवधान में उत्पन्न होती रहती है। व्यवधान में प्रत्यक्ष भी उत्पन्न नहीं होता। अन्यथा घट की तरह उसको कालान्तरावस्थायी मानने पर बुद्धि का दृश्यव्यवधान होने पर भी प्रत्यक्ष होना चाहिये।

आज देखे हुए घट को दूसरे दिन स्मरण कर लेते हैं—यह स्मृति भी बुद्धि की स्थायिता सिद्ध नहीं कर सकती; क्योंकि स्मृति में बुद्धिजन्य संस्कार हेतु है; न कि साक्षात् बुद्धि।

जो यह मानता है कि—'बुद्धि स्थिर है, क्योंकि उसके विषय में स्मृति होती है, यदि बुद्धि अनित्य होती तो कारण न रहने से स्मृतिरूप कार्य कैसे होगा?' यह मत अहेतुक है; क्योंकि बुद्धिजन्य संस्कार ही स्मृतिहेतु है वह गुणान्तर है; न कि साक्षात् बुद्धि।

आप की भी बात हेतु के होने से अयुक्त ही है? यह नहीं कह सकते; क्योंकि बुद्धि नित्य होने से निरन्तर प्रत्यक्ष रहेगी, फिर उसकी स्मृति कहाँ बनेगी! कारण, जब तक बुद्धि रहेगी तब तक वह बोद्धव्यार्थ प्रत्यक्ष रहेगा और प्रत्यक्ष के रहते स्मृति कैसे उत्पन्न होगी!॥ ४२॥

यदि रूपज्ञान अनवस्थायी होगा तो वह, विद्युत्सम्पात में क्षणिक अव्यक्त रूपज्ञान की तरह, अव्यक्त ही गृहीत होगा?॥ ४३॥

यदि उत्पत्तिविनाशिनी बुद्धि है तो संयुक्त बोद्धव्य विषय का ज्ञान भी अव्यक्त ही होगा, जैसे विद्युत्सम्पात में वैद्युत प्रकाश के अस्थिर होने से रूप का अव्यक्त ज्ञान होता है, जब कि द्रव्यों का ज्ञान व्यक्त होता है। अतः ज्ञान का कालान्तरानवस्थायित्व पक्ष अयुक्त ही है?॥ ४३॥

हेतूपादान द्वारा प्रतिषेध्य की स्वीकृति देने से॥ ४४॥

'उत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिः' इति प्रतिषेद्धव्यम्, तदेवाभ्यनुज्ञायते-'विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवत्' इति। यत्राव्यक्तग्रहणं तत्रोत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिरिति।

ग्रहणे हेतुविकल्पाद् ग्रहणविकल्पः; न बुद्धिविकल्पात्।

यदिदं क्वचिदव्यक्तं क्वचिद्व्यक्तं ग्रहणमयं विकल्पः, ग्रहणहेतुविकल्पात्। यत्रानवस्थितो ग्रहणहेतुः तत्राव्यक्तं ग्रहणम्, यत्रावस्थितस्तत्र व्यक्तम्, न तु बुद्धेरवस्थानानव-स्थानाभ्यामिति। कस्मात्? अर्थग्रहणं हि बुद्धिः, यत्र तदर्थग्रहणमव्यक्तं व्यक्तं वा बुद्धिः सेति। विशेषाग्रहणे च सामान्यग्रहणमात्रमव्यक्तग्रहणम्, तत्र विषयान्तरे बुद्ध्यन्तरानुत्पत्तिः; निमित्ता-भावात्। यत्र समानधर्मयुक्तश्च धर्मी गृह्यते विशेषधर्मयुक्तश्च, तद्व्यक्तं ग्रहणम्। यत्र तु विशेषे-ऽगृह्यमाणे सामान्यग्रहणमात्रम्, तदव्यक्तं ग्रहणम्। समानधर्मयोगाच्च विशिष्टधर्मयोगो विषयान्तरम्, तत्र यत्तु ग्रहणं न भवति तद्ग्रहणनिमित्ताभावाद्, न बुद्धेरनवस्थानादिति।

यथाविषयं च ग्रहणं व्यक्तमेव। प्रत्यर्थनियतत्वाच्च बुद्धीनाम्-सामान्यविषयं च ग्रहणं स्वविषयं प्रति व्यक्तम्, विशेषविषयं च ग्रहणं स्वविषयं प्रति व्यक्तम्। प्रत्यर्थनियता हि बुद्धयः, तदिदमव्यक्तग्रहणं देशितं क्व विषये बुद्ध्यनवस्थानकारितं स्यादिति!

धर्मिणस्तु धर्मभेदे बुद्धिनानात्वस्य भावाभावाभ्यां तदुपपत्तिः।

धर्मिणः खल्वर्थस्य समानाश्च धर्माः, विशिष्टाश्च; तेषु प्रत्यर्थनियता नानाबुद्धयः। ता उभय्यो यदि धर्मिणि वर्तन्ते तदा व्यक्तं ग्रहणं धर्मिणमभिप्रेत्य। यदा तु सामान्यग्रहणमात्रं

यहाँ 'बुद्धि उत्पादविनाशिनी है'—यह प्रतिषेध्य है, उसी को आप 'विद्युत्सम्पात में रूप के अव्यक्त ज्ञान की तरह' ऐसा उदाहरण देकर स्वीकृत कर रहे हैं! जहाँ अव्यक्त ज्ञान होगा वहाँ बुद्धि के उत्पाद विनाश मानने ही पड़ेंगे।

ज्ञान के हेतुविकल्प से ज्ञानविकल्प है, न कि ज्ञानविकल्प से। यह जो कहीं अव्यक्त तथा कहीं व्यक्त ज्ञान होता है, वहाँ ज्ञानसम्बन्धी हेतुविकल्प कारण है। जहाँ ज्ञानहेतु कारण अस्थिर है, वहाँ अव्यक्त ज्ञान होगा, जहाँ ज्ञानहेतु कारण स्थिर है, वहाँ व्यक्त ज्ञान होगा। ज्ञान की स्थिति से कोई प्रयोजन नहीं; क्योंकि अर्थज्ञान ही बुद्धि है। अर्थ का व्यक्त या अव्यक्त ज्ञान हो वह सब 'बुद्धि' है। विशेष ज्ञान न होने पर सामान्य ज्ञानमात्र को 'अव्यक्त ज्ञान' कहते हैं। वहाँ निमित्त कारण न होने से विषयान्तर की बुद्धि की उत्पत्ति नहीं होती। जहाँ तुल्यधर्मा तथा विशेषधर्मा धर्मी गृहीत होता है, वह 'व्यक्त ज्ञान' तथा जहाँ विशेष के अगृहीत होने पर सामान्य ज्ञानमात्र होता है वह 'अव्यक्त ज्ञान' कहलाता है। समानधर्म से युक्त होते हुए विशेष धर्म का सम्बन्ध होना 'विषयान्तर' कहलाता है। वहाँ जो ज्ञान नहीं होता वह ज्ञानहेतु के न होने से नहीं हो पाता, न कि बुद्धि के अनवस्थान से।

जिसका विषय जैसा है उसका वैसा ही ज्ञान 'व्यक्त ज्ञान' कहलाता है। प्रत्येक ज्ञान के अपने अपने अर्थ में नियत होने से सामान्यविषयक ज्ञान अपने विषय के प्रति 'व्यक्त' है, इसी तरह विशेषविषयक ज्ञान अपने प्रति 'व्यक्त' है, बुद्धियाँ प्रत्येक विषयज्ञान में नियत हैं। तो बुद्धि के अनवस्थान के कारण यह अव्यक्त ज्ञान प्रख्यात होता हुआ किस विषय में होगा!

धर्मी में धर्मभेद होने से बुद्धि नानात्व के होने या न होने से व्यक्त तथा अव्यक्त की उपपत्ति होती है।

धर्मी अर्थ के सामान्य तथा विशेष—दोनों ही धर्म होते हैं, उनमें बुद्धियाँ प्रत्यर्थनियत होने से

तदाऽव्यक्तं ग्रहणमिति। एवं धर्मिणमभिप्रेत्य व्यक्ताव्यक्तयोर्ग्रहणयोरुपपत्तिरिति।

न चेदमव्यक्तं ग्रहणं बुद्धेर्बोद्धव्यस्य वाऽनवस्थायित्वादुपपद्यत इति॥ ४४॥

इदं हि न—

प्रदीपार्चिःसन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत् तद्ग्रहणम्॥ ४५॥

अनवस्थायित्वेऽपि बुद्धेस्तेषां द्रव्याणां ग्रहणं व्यक्तं प्रतिपत्तव्यम्। कथम्? प्रदीपार्चिःसन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्। प्रदीपार्चिषां सन्तत्या वर्त्तमानानां ग्रहणानवस्थानं ग्राह्यानवस्थानं च, प्रत्यर्थनियतत्वाद् बुद्धीनाम्, यावन्ति प्रदीपार्चींषि तावत्यो बुद्धय इति। दृश्यते चात्र व्यक्तं प्रदीपार्चिषां ग्रहणमिति॥ ४५॥

बुद्धेः शरीरगुणव्यतिरेकपरीक्षाप्रकरणम् [४६-५५]

चेतना शरीरगुणः; सति शरीरे भावात्, असति चाभावादिति?—

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः॥ ४६॥

सांशयिकः सति भावः। स्वगुणोऽप्सु द्रवत्वमुपलभ्यते, परगुणश्चोष्णता, तेनायं संशयः—किं शरीरगुणश्चेतना शरीरे गृह्यते, अथ द्रव्यान्तरगुण इति?॥ ४६॥

१. न शरीरगुणश्चेतना। कस्मात्?

अनेकविध हैं। यदि धर्मिविषयक वे दोनों प्रकार की बुद्धि रहती हैं तो धर्मी के अभिप्राय से व्यक्त ज्ञान होता है, तथा जब सामान्य ज्ञानमात्र होता है उसे अव्यक्त ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार धर्मी को लेकर व्यक्ताव्यक्त ज्ञान का उत्पादन हो सकता है, उससे ज्ञान की अवस्थितता या अनवस्थितता सिद्ध नहीं होती।

एक बात और, यह अव्यक्त ज्ञान बुद्धि या बोद्धव्य विषय की अनवस्थायिता के कारण नहीं, अपितु ज्ञान के प्रत्यर्थनियतत्व के कारण होता है; जो कि हम अभी प्रतिपादित कर चुके हैं॥ ४४॥

पूर्वपक्षी के मत से बुद्ध्यनवस्थायित्व अधर्मिता अहेतु है—ऐसा मानना उचित नहीं; क्योंकि—

प्रदीप की प्रभासन्तति द्वारा अभिव्यक्त ज्ञान की तरह उस द्रव्य का व्यक्त ज्ञान होता है॥ ४५॥

बुद्धि को उत्पादविनाशी मानने पर भी द्रव्यों का ज्ञान व्यक्त मानना चाहिये। कैसे? प्रदीप की किरण सन्तानों से अभिव्यक्त ज्ञान की तरह। दीपक की किरणसन्तति का ज्ञान तथा ज्ञेय विषय—दोनों ही अनवस्थायी है; उसी तरह बुद्धियों के प्रत्यर्थनियत होने से जितनी दीपक की किरणें होंगी उतनी ही बुद्धियाँ होंगी। प्रदीप की किरणें यद्यपि अस्थिर है फिर भी उन से होनेवाला ज्ञान व्यक्त ही गृहीत होता है। अतः 'ज्ञान की अनवस्थायिता से अव्यक्त ज्ञान होता है'—ऐसा आप नहीं कह सकते॥ ४५॥

चेतना शरीर का गुण है; क्योंकि वह शरीर के रहने पर रहती है, न रहने पर नहीं रहती?

द्रव्य में स्वगुण तथा परगुण—दोनों को उपलब्धि से यहाँ संशय है॥ ४६॥

'आश्रय के होने पर उसका गुण गृहीत होता है'—इसीसे चेतन विषय में कोई निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो पाता। जैसे जल में द्रवत्व स्वगुण भी उपलब्ध है, उष्णता परगुण (तैजस) भी है। अतः यह संशय होता है—क्या शरीर में गृहीत होनेवाली चेतना शरीर का गुण है या किसी द्रव्यान्तर का॥ ४६॥

१. चेतना शरीरगुण नहीं है; क्योंकि

यावच्छरीरभावित्वाद् रूपादीनाम्॥ ४७॥

न रूपादिहीनं शरीरं गृह्यते, चेतनाहीनं तु गृह्यते; यथा—उष्णताहीना आपः, तस्मान्न शरीरगुणश्चेतनेति।

संस्कारवदिति चेद्? न; करणानुच्छेदात्।

यथाविधे द्रव्ये संस्कारः, तथाविध एवोपरमो न; तत्र कारणोच्छेदादत्यन्तं संस्कारानुपपत्तिर्भवति। यथाविधे शरीरे चेतना गृह्यते, तथाविध एवात्यन्तोपरमश्चेतनाया गृह्यते। तस्मात् संस्कारवदित्यसमः समाधिः।

अथापि शरीरस्थं चेतनोत्पत्तिकारणं स्याद्? द्रव्यान्तरस्थं वा? उभयस्थं वा? तत्र; नियमहेत्वभावात्। शरीरस्थेन कदाचिच्चेतनोत्पद्यते, कदाचिन्नेति नियमे हेतुर्नास्तीति। द्रव्यान्तरस्थेन च शरीर एव चेतनोत्पद्यते, न लोष्टादिषु इत्यत्र न नियमहेतुरस्तीति। उभयस्य निमित्तत्वे शरीरसमानजातीयद्रव्ये चेतना नोत्पद्यते, शरीर एव चोत्पद्यते—इति नियमे हेतुर्नास्तीति॥ ४७॥

यच्च मन्येत-सति श्यामादिगुणे द्रव्ये श्यामाद्युपरमो दृष्टः, एवं चेतनोपरमः स्यादिति?

न; पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः॥ ४८॥

नात्यन्तं रूपोपरमो द्रव्यस्य, श्यामरूपे निवृत्ते पाकजं गुणान्तरं रक्तं रूपमुत्पद्यते, शरीरे तु चेतनामात्रोपरमोऽत्यन्तमिति॥ ४८॥

रूपादि शरीरपर्यन्त ही रहते हैं॥ ४७॥

शरीर रूपादिहीन गृहीत नहीं हो पाता, जब कि वह चेतनाहीन गृहीत होता देखा जाता है, जैसे उष्णताहीन जल। अतः चेतना शरीरगुण नहीं है।

जैसे संस्कार शरीरगुण है, परन्तु वह शरीरपर्यन्त नहीं रहता, उसी तरह चेतना को भी शरीरगुण मान लें? नहीं मान सकते; क्योंकि वहाँ कारण का नाश न होने से उसका नाश नहीं होता। द्रव्य की जिस स्थिति में संस्कार होता है उस स्थिति में संस्कार का नाश नहीं होता, वहाँ कारणोच्छेद से संस्कारानुपपत्ति आत्यन्तिक होती है। परन्तु जिस स्थिति के शरीर में चेतना गृहीत होती है उसी तरह के शरीर में चेतना का नाश भी देखा जाता है। अतः 'संस्कार की तरह' यह समाधान तुल्य नहीं है।

यदि यह कहें कि शरीरस्थ या द्रव्यान्तरस्थ या शरीरस्थ द्रव्यान्तरस्थ—दोनों ही उत्पत्तिकारण हैं? नियमहेतु न होने से यह नहीं कह सकते; क्योंकि 'शरीरस्थ कारण से कभी चेतना उत्पन्न हो, कभी नहीं'—इस नियम में कोई हेतु नहीं बनता। तथा 'द्रव्यान्तरस्थ कारण से शरीर में चेतना उत्पन्न हो, सिकता पाषाणादि में नहीं'—इस नियम में भी कोई हेतु नहीं बन सकता। अथ च—उभयस्थ मानने पर, 'शरीरसमानजातीय द्रव्य में चेतना उत्पन्न न हो, केवल शरीर में ही उत्पन्न हो'—इस नियम में भी कोई हेतु नहीं बन पाता॥ ४७॥

और जो ऐसा माना जाय कि 'जैसे श्यामादिगुणवान् द्रव्य में, द्रव्य के रहते हुए भी श्यामादि गुण का नाश हो जाता है, उसी तरह शरीर के रहते चेतना का उपरम हो जाता है?'

पाकजगुणान्तरोत्पत्ति के कारण ऐसा नहीं मान सकते॥ ४८॥

द्रव्य का आत्यन्तिक रूपनाश नहीं होता। श्यामरूप के निवृत्त होने पर पाकजन्य गुणान्तर रक्तरूप उत्पन्न होता है, किन्तु शरीर में चेतनामात्र का आत्यन्तिक उपरम हो जाता है। अतः यह दृष्टान्त अनुपपन्न है॥ ४८॥

अथापि—

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ॥ ४९ ॥

यावत्सु द्रव्येषु पूर्वगुणप्रतिद्वन्द्विसिद्धिस्तावत्सु पाकजोत्पत्तिर्दृश्यते; पूर्वगुणैः सह पाकजानामवस्थानस्याग्रहणात्। न च शरीरे चेतनाप्रतिद्वन्द्विसिद्धौ सहानवस्थायि गुणान्तरं गृह्यते, येनानुमीयेत तेन चेतनाया विरोधः। तस्मादप्रतिषिद्धा चेतना यावच्छरीरं वर्तेत। न तु वर्तते, तस्मान्न शरीरगुणश्चेतना इति ॥ ४९ ॥

२. इतश्च न शरीरगुणश्चेतना;

शरीरव्यापित्वात् ॥ ५० ॥

शरीरं शरीरावयवाश्च सर्वे चेतनोत्पत्त्या व्याप्ता इति न क्वचिदनुत्पत्तिश्चेतनायाः। शरीरवच्छरीरावयवाश्चेतना इति प्राप्तं चेतनबहुत्वम्। तत्र यथा प्रतिशरीरं चेतनबहुत्वे सुखदुःखज्ञानानां व्यवस्था लिङ्गम्, एवमेकशरीरेऽपि स्यात्। न तु भवति, तस्मान्न शरीरगुणश्चेतनेति ॥ ५० ॥

यदुक्तम्—न क्वचिच्छरीरावयवे चेतनाया अनुत्पत्तिरिति? सा

न, केशनखादिष्वनुपलब्धेः ? ॥ ५१ ॥

केशेषु नखादिषु चानुत्पत्तिश्चेतनाया इति अनुपपन्नं शरीरव्यापित्वमिति ? ॥ ५१ ॥

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसङ्गः ॥ ५२ ॥

एक बात और—

प्रतिद्वन्द्वी की सिद्धि होने से यहाँ पाकज गुणों वाला प्रतिषेध भी नहीं बनता ॥ ४९ ॥

जितने द्रव्यों में पूर्वगुणविरोधी गुण की उत्पत्ति होती हो उतने ही द्रव्यों में पाकज गुण की उत्पत्ति देखी जाती है; क्योंकि पूर्व गुणों के साथ पाकज गुणों का अवस्थान नहीं देखा जाता। चेतना में ऐसी बात नहीं है; क्योंकि शरीर में चेतनाप्रतिद्वन्द्वी की सिद्धि होती हो—ऐसा गुणान्तर गृहीत नहीं होता, जिससे कि चेतना के विरोध का अनुमान हो। विरोध न होने से चेतना को शरीर के स्थायितापर्यन्त रहना चाहिये, परन्तु रहती नहीं, अतः चेतना शरीरगुण नहीं है ॥ ४९ ॥

२. इस कारण भी चेतना शरीरगुण नहीं है—

शरीरव्यापी होने से ॥ ५० ॥

शरीर तथा उसका प्रत्येक अवयव चेतनोत्पत्ति से व्याप्त है, क्योंकि उनमें शरीर के किसी भी भाग में चेतना की अनुत्पत्ति नहीं देखी जाती। तो जब शरीर की तरह शरीरावयव भी चेतन हैं तब आपको अनेक चेतन मानने पड़ेंगे। जैसे प्रत्येक शरीर में चेतन का पार्थक्य सुख दुःख, ज्ञान आदि का व्यवस्थापक हेतु है, उसी तरह अब एक शरीर में भी चेतनबहुत्व होता हुआ सुखादि का व्यवस्थापक होने लगेगा, होता है नहीं; अतः मानना चाहिये कि चेतना शरीरगुण नहीं है ॥ ५० ॥

शङ्का—यह जो कहा था कि 'किसी भी शरीरावयव में चेतना का अनुत्पाद नहीं है' ? यह भी

नहीं कह सकते; क्योंकि केशनखादि में चेतना उपलब्ध नहीं होती ? ॥ ५१ ॥

केश तथा नखादि में चेतना उपलब्ध नहीं होती, अतः चेतना का शरीरव्यापित्व सिद्ध नहीं होगा ॥ ५१ ॥

केश-नखादि में चेतना क्यों नहीं उपलब्ध होती ?

शरीरके त्वक्पर्यन्त माना जाने से केश नखादि में चेतना नहीं सिद्ध होती ॥ ५२ ॥

इन्द्रियाश्रयत्वं शरीरलक्षणम्। त्वक्पर्यन्तं जीवमनःसुखदुःखसंवित्त्यायतनभूतं शरीरम्, तस्मान्न केशादिषु चेतनोत्पद्यते। अर्थकारितस्तु शरीरोपचारः केशादीनामिति ॥ ५२ ॥

३. इतश्च न शरीरगुणश्चेतना;

शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥ ५३ ॥

द्विविधः शरीरगुणः—अप्रत्यक्षश्च गुरुत्वम्, इन्द्रियग्राह्यश्च रूपादिः। विधान्तरं तु चेतना—नाप्रत्यक्षा संवेद्यत्वात्, नेन्द्रियग्राह्या मनोविषयत्वात्। तस्माद् द्रव्यान्तरगुण इति ॥ ५३ ॥

न, रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ? ॥ ५४ ॥

यथेतरेतरविधर्माणो रूपादयो न शरीरगुणत्वं जहति, एवं रूपादिवैधर्म्याच्चेतना शरीरगुणत्वं न हास्यतीति ? ॥ ५४ ॥

ऐन्द्रियकत्वाद् रूपादीनामप्रतिषेधः ॥ ५५ ॥

अप्रत्यक्षत्वाच्चेति। यथेतरेतरविधर्माणो रूपादयो न द्वैविध्यमतिवर्तन्ते, तथा रूपादिवैधर्म्याच्चेतना न द्वैविध्यमतिवर्तेत यदि शरीरगुणः स्यादिति। अतिवर्तते तु, तस्मान्न शरीरगुण इति।

भूतेन्द्रियमनसां ज्ञानप्रतिषेधात् सिद्धे सत्यारम्भो विशेषज्ञापनार्थः। बहुधा परीक्ष्यमाणं तत्त्वं सुनिश्चिततरं भवतीति ॥ ५५ ॥

शरीर इन्द्रियाधिष्ठान है। यह शरीर जीव, मन, सुख दुःख संवित्ति का अधिष्ठानभूत है, उक्त संवित्ति त्वक्पर्यन्त होती है, अतः उतने को ही शरीर माना जाता है, केश नखादि को नहीं। शरीरसंयुक्त होने से केशादि को शरीर कह देते हैं, वस्तुतः वे शरीरावयव नहीं हैं ॥ ५२ ॥

३. इस कारण भी चेतना शरीरगुण नहीं है; क्योंकि

(चेतना) शरीरगुणों से विलक्षण है ॥ ५३ ॥

शरीरगुण दो प्रकार के हैं—कोई अप्रत्यक्ष अतीन्द्रिय है, जैसे—गुरुत्वादि, कोई प्रत्यक्ष इन्द्रियग्राह्य हैं, जैसे—रूपादि। चेतना इन दोनों ही प्रकारों से विलक्षण है। यह संवेद्य होने से भी अप्रत्यक्ष नहीं होती, और मनोविषय होने से इन्द्रियग्राह्य नहीं है। अतः चेतना शरीरगुण नहीं, अपितु किसी अन्य द्रव्य का गुण है ॥ ५३ ॥

शरीरगुणों से वैलक्षण्यमात्र चेतना का

शरीरागुणत्व सिद्ध नहीं करता; क्योंकि रूपादि गुण भी इतरेतरविलक्षण हैं ? ॥ ५४ ॥

जैसे एक दूसरे से विलक्षण रूप रसादि शरीरगुणत्व से च्युत नहीं होते, उसी तरह रूपादि से विलक्षण होने के कारण ही चेतना शरीर गुणत्व को कैसे छोड़ेगी ? ॥ ५४ ॥

रूपादिक के ऐन्द्रियक होने से उनमें शरीराश्रयत्व है ॥ ५५ ॥

अप्रत्यक्ष होने से भी। जैसे रूपादि इतरेतरविधर्मी होते हुए भी मुख्य अंश में समानधर्मा ही हैं, क्योंकि पूर्वोक्त (३.२.५३) द्वैविध्य (अप्रत्यक्षत्व व बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व) को वे अतिक्रान्त नहीं करते। उसी तरह चेतना भी यदि शरीरगुण होती तो उक्त द्वैविध्य को अतिक्रान्त न करती ! जब कि वह अतिक्रान्त करती है, अतः यह सिद्ध है कि वह शरीरगुण नहीं, अपितु द्रव्यान्तरगुण है।

भूत, इन्द्रिय तथा मन में ज्ञान का प्रतिषेध हम पीछे (३.२.३८) कर आये, यों सिद्ध होने पर भी विशेष ज्ञान के लिये फिर से बात को उठाया गया; क्योंकि अनेक तरह से परीक्षित तत्त्व ही सुनिश्चित हुआ करता है ॥ ५५ ॥

मनःपरीक्षाप्रकरणम् [५६-५९]

परीक्षिता बुद्धिः, मनसः इदानीं परीक्षाक्रमः। तत् किं प्रतिशरीरमेकम्, अनेकं वा? इति विचारे—

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः॥५६॥

अस्ति खलु वै ज्ञानायौगपद्यमेकैकस्येन्द्रियस्य यथाविषयम्, करणस्यैकप्रत्ययनिर्वृत्तौ सामर्थ्यात्। न तदेकत्वे मनसो लिङ्गम्। यत्तु खल्विदमिन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु ज्ञानायौगपद्यमिति तल्लिङ्गम्। कस्मात्? सम्भवति खलु वै बहुषु मनःस्विन्द्रियमनःसंयोगयौगपद्यमिति ज्ञानयौगपद्यं स्यात्, न तु भवति। तस्माद्विषये प्रत्ययपर्यायादेकं मनः॥५६॥

न; युगपदनेकक्रियोपलब्धेः?॥५७॥

अयं खल्वध्यापकोऽधीते, व्रजति, कमण्डलुं धारयति, पन्थानं पश्यति, शृणोत्यरण्यजान् शब्दान्, बिभेति, व्याललिङ्गानि बुभुत्सते, स्मरति च गन्तव्यं स्थानीयमिति क्रमस्याग्रहणाद्युगपदेताः क्रिया इति प्राप्तं मनसो बहुत्वमिति?॥५७॥

अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसञ्चारात्॥५८॥

आशुसञ्चारादलातस्य भ्रमतो विद्यमानः क्रमो न गृह्यते, क्रमस्याग्रहणादविच्छेदबुद्ध्या चक्रवद् बुद्धिर्भवतीति; तथा बुद्धीनां क्रियाणां चाशुवृत्तित्वाद् विद्यमानः क्रमो न गृह्यते, क्रमस्याग्रहणाद् युगपद् क्रिया भवन्तीति अभिमानो भवति।

बुद्धि की परीक्षा हो चुकी, अब **मन की परीक्षा** का उपक्रम कर रहे हैं। वह मन प्रत्येक शरीर में एक है, या अनेक?—ऐसा विचार (संशय) उपस्थित होने पर, कहते हैं—

ज्ञानायौगद्य हेतु से मन एक ही है॥५६॥

ज्ञान युगपत् उत्पन्न नहीं होते, अपितु क्रमिक ही होते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय स्वस्वविषयक ज्ञान कराने में नियत है, अर्थात् उस उस इन्द्रिय का एक काल में स्वस्वविषयक एक ही ज्ञान कराने में सामर्थ्य देखा जाता है—ऐसा एकत्व मन की सिद्धि में हेतु नहीं; बल्कि दूसरी इन्द्रियों के विषयान्तरों का ज्ञानायौगपद्य (एक ही ज्ञान) मन की सिद्धि में हेतु है; क्योंकि अनेक मन मानने पर दूसरी इन्द्रियों के साथ भी मनःसंयोग होने से इन्द्रियान्तरज युगपद् अनेक ज्ञान होने लगेंगे। ऐसा होता है नहीं, अतः उस उस विषय का तत्तदिन्द्रियों द्वारा एक ज्ञान होने से 'मन' सिद्ध हो जाता है॥५६॥

शङ्का—

एक साथ अनेक क्रियाएँ उपलब्ध होने के कारण आप ऐसा नहीं कह सकते?॥५७॥

जैसे एक ही अध्यापक पढ़ता भी है, चलता भी है, कमण्डलु उठाता है, रास्ता देखता है, जंगल में होने वाले शब्द सुनता है, उनसे डरता है, सांप के गमनचिह्न (निशान) को देखना चाहता है, गन्तव्य स्थान का स्मरण करता है—यों इस अध्यापक की इन क्रियाओं में क्रमिक ग्रहण न होने से ये क्रियाएँ एक साथ ही हुईं—ऐसा मानना पड़ेगा, ऐसी स्थिति में मन में अनेकत्वप्रसङ्ग हुआ कि नहीं?॥५७॥

उत्तर—

अलातचक्र की तरह, उन क्रियाओं की युगदुपलब्धि आशुसञ्चार से हो जाती है॥५८॥

अति शीघ्र घूमने से घूमते हुए अलात (जलती लकड़ी) में विद्यमान क्रम जैसे ज्ञात नहीं होता, क्रम के अग्रहण से वहाँ अविच्छिन्नत्व बुद्धि होने लगती है; उसी तरह बुद्धि तथा क्रियाओं में

किं पुनः क्रमस्याग्रहणाद् युगपद् क्रियाभिमानः? अथ युगपद्भावादेव युगपदनेकक्रियोपलब्धिरिति?—नात्र विशेषप्रतिपत्तेः कारणमुच्यते इति? उक्तम् इन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु पर्यायेण बुद्धयो भवन्तीति। तच्चाप्रत्याख्येयम्; आत्मप्रत्यक्षत्वात्। अथापि दृष्टश्रुतानर्थान् चिन्तयतः क्रमेण बुद्धयो वर्तन्ते, न युगपत्, अनेनानुमातव्यमिति। वर्णपदवाक्यबुद्धीनां तदर्थबुद्धीनां चाशुवृत्तित्वात्क्रमस्याग्रहणम्। कथम्? वाक्यस्थेषु खलु वर्णेषूच्चरत्सु प्रतिवर्णं तावच्छ्रवणं भवति, श्रुतं वर्णमेकमनेकं वा पदभावेन प्रतिसन्धत्ते, प्रतिसन्धाय पदं व्यवस्यति, पदव्यवसायेन स्मृत्या पदार्थं प्रतिपद्यते, पदसमूहप्रतिसन्धानाच्च वाक्यं व्यवस्यति, सम्बद्धांश्च पदार्थान् गृहीत्वा वाक्यार्थं प्रतिपद्यते। न चासां क्रमेण वर्तमानानां बुद्धीनामाशुवृत्तित्वात् क्रमो गृह्यते, तदेतदनुमानमन्यत्र बुद्धिक्रियायौगपद्याभिमानस्येति।

न चास्ति मुक्तसंशया युगपदुत्पत्तिर्बुद्धीनाम्, यया मनसां बहुत्वमेकशरीरेऽनुमीयेत इति॥५८॥

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु॥५९॥

अणु मन एकं चेति धर्मसमुच्चयः, ज्ञानायौगपद्यात्। महत्त्वे मनसः सर्वेन्द्रियसंयोगाद् युगपद्विषयग्रहणं स्यादिति॥५९॥

अतिशैघ्र्य होने से उनमें विद्यमान क्रम ज्ञात नहीं हो पाता। क्रम के अज्ञात रहने से वहाँ युगपत् क्रियाएँ हुई—ऐसा भ्रम होता है। वस्तुतः ये क्रियाएँ क्रमिक ही हैं।

शङ्का—

यहाँ क्रम के अग्रहण से युगपत् क्रिया का भ्रम है? या क्रियाओं के युगपद् होने से वहाँ क्रियायौगपद्य गृहीत होता है?—इनमें से हम किस बात को उचित समझें; किसी पक्ष में कोई हेतु दीजिये?

उत्तर—कहा तो कि विषयान्तर में इन्द्रियान्तरों का ज्ञान क्रमिक ही होता है, इसके स्वसिद्ध (प्रत्यात्मवेदनीय) होने से। इस सिद्धान्त का आप खण्डन नहीं कर सकते; एक बात और—दृष्ट या श्रुत अर्थों को विचारती हुई बुद्धि क्रम से ही प्रवृत्त होती है, एक साथ सर्वत्र नहीं, इससे अनुमान होता है कि ज्ञान क्रमिक होते हैं। वर्ण, पद, तथा वाक्य और उनके अर्थ ज्ञानों के क्रम का ग्रहण उनमें आशुवृत्तित्व होने से नहीं हो पाता। कैसे? वाक्यस्थ वर्णों के उच्चारण करने पर प्रत्येक वर्ण का श्रवण होता है, सुना गया एक या अनेक वर्ण पदरूप से जोड़ा जाता है, जोड़ कर उसे पदरूप से समझा जाता है। पदरूप से समझकर अर्थ की स्मृति से उस पद का अर्थ समझा जाता है; इसी तरह पदसमूह को स्मरण कर उन्हें वाक्यरूप में समझा जाता है। पदों के सम्बद्ध रूप में अर्थ को स्मरण कर वाक्यार्थ समझा जाता है। इन सभी क्रियाओं तथा बुद्धियों में, अतिशीघ्रता हो जाने से क्रम गृहीत नहीं हो पाता। वस्तुतः हैं तो ये सब क्रमिक ही। इसी तरह अन्यत्र भी क्रिया के बुद्धिगत यौगपद्यभ्रम के विषय में समझ लें।

वस्तुतः उभयवादिसम्मत ज्ञानों की ऐसी कोई संशयरहित युगपद् उत्पत्ति नहीं है, जिससे एक शरीर में मन का अनेकत्व अनुभूत हो सके॥५८॥

यथोक्त (ज्ञानायौगपद्य) हेतु से मन का अणुत्व भी सिद्ध होता है॥५९॥

'मन अणु है तथा एक है' यह धर्मसमुच्चय भी तभी सिद्ध होता है जब हम ज्ञानायौगपद्य

अदृष्टनिष्पाद्यत्वपरीक्षाप्रकरणम् [६०-७२]

मनसः खलु भोः! सेन्द्रियस्य शरीरे वृत्तिलाभः, नान्यत्र शरीरात्। ज्ञातुश्च पुरुषस्य शरीरायतना बुद्ध्यादयो विषयोपभोगो जिहासितहानमीप्सितावाप्तिश्च, सर्वे च शरीराश्रया व्यवहाराः। तत्र खलु विप्रतिपत्तेः संशयः—किमयं पुरुषकर्मनिमित्तः शरीरसर्गः? आहोस्विद् भूतमात्रादकर्मनिमित्त इति?—श्रूयते खल्वत्र विप्रतिपत्तिरिति।

तत्रेदं तत्त्वम्—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः॥ ६०॥

पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भलक्षणा तत्पूर्वकृतं कर्मोक्तम्, तस्य फलं तज्जनितौ धर्माधर्मौ, तत्फलस्यानुबन्ध आत्मसमवेतस्यावस्थानम्, तेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यस्तस्योत्पत्तिः शरीरस्य, न स्वतन्त्रेभ्य इति। यदधिष्ठानोऽयमात्मा-'अयमहम्' इति मन्यमानो यत्राभियुक्तो यत्रोपभोगतृष्णया विषयमनुपलभमानो धर्माधर्मौ संस्करोति तदस्य शरीरम्। तेन संस्कारेण धर्माधर्मलक्षणेन भूतसहितेन पतितेऽस्मिन् शरीरे उत्तरं निष्पद्यते, निष्पन्नस्य चास्य पूर्वशरीरवत् पुरुषार्थक्रिया, पुरुषस्य च पूर्वशरीरवत् प्रवृत्तिरिति कर्मापेक्षेभ्यो भूतेभ्यः शरीरसर्गे सत्येतदुपपद्यते इति। दृष्टा च पुरुषगुणेन प्रयत्नेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यः पुरुषार्थक्रियासमर्थानां द्रव्याणां रथप्रभृतीनामुत्पत्तिः। तयाऽनुमातव्यम्—शरीरमपि पुरुषार्थक्रियासमर्थमुत्पद्यमानम् पुरुषस्य गुणान्तरापेक्षेभ्यो भूतेभ्य उत्पद्यत इति॥ ६०॥

सिद्धान्त मानते हैं। अन्यथा मन के 'महत्' होने पर इसका एक ही समय में अनेक इन्द्रियों के साथ संयोग होकर अनेक ज्ञान उत्पन्न होने लगेंगे। होते हैं नहीं; अतः सिद्ध है कि मन अणु तथा एक है॥ ५९॥

इन्द्रियसहित मन का शरीर में ही रहना मिलता है, शरीर से अन्यत्र नहीं। ज्ञाता पुरुष के बुद्ध्यादि गुण, विषयोपभोग—हेय का त्याग और ईप्सित की प्राप्ति—आदि सभी व्यवहार शरीर का ही आश्रय लिये हुए हैं। यहाँ विप्रतिपत्ति होने पर संशय होता है कि क्या यह शरीर पुरुषकर्मनिमित्तक है? या विना किसी कर्मनिमित्त से भूतों के समवाय से हो जाता है? यहाँ यह विप्रतिपत्ति सुनायी देती है।

यद्यपि वास्तविकता यह है—

पूर्वजन्मकृत फलानुबन्ध से शरीर की उत्पत्ति होती है॥ ६०॥

पूर्व जन्म में शरीर, वाणी या बुद्धि द्वारा किये गये कार्य पूर्वकृत कर्म कहलाते हैं। उससे उत्पन्न हुए धर्म तथा अधर्म उसके फल हैं। उस फल का अनुबन्ध जीव का आत्मा में रहना है। उस अनुबन्ध से प्रयुक्त भूतों द्वारा ही उस जीव की शरीरोत्पत्ति होती है; न कि स्वतन्त्रतया भूतों से। जिसका आश्रय लेकर यह आत्मा 'यह मैं हूँ'—ऐसा मानता हुआ सम्बद्ध हो, विषयोपभोग की कामना से विषयों को चाहता हुआ विषयों की उपलब्धि नहीं करता हुआ धर्म तथा अधर्म का संस्कार करता है, स्थिर बनाये रखता है वह 'शरीर' है। इस शरीर के विनष्ट होने पर भूतसहित धर्माधर्मलक्षणक उस संस्कार से दूसरा शरीर बनता है। बनने पर इस दूसरे शरीर की भी पहले की तरह पुरुषार्थक्रियाएँ प्रारम्भ होती हैं। पुरुष (आत्मा) की भी पहले की तरह प्रवृत्ति होने लगती है। ये उपर्युक्त सब बातें कर्म की अपेक्षा रखनेवाले भूतों से शरीर-सृष्टि होने से ही उपपन्न हो पाती हैं। लोक में भी पुरुषसम्बन्धी प्रयत्न द्वारा

अत्र नास्तिक आह—

भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत् तदुपादानम्?॥ ६१॥

यथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यो निर्वृत्ता मूर्तयः सिकताशर्करापाषाणगैरिकाञ्जनप्रभृतयः पुरुषार्थकारित्वादुपादीयन्ते, तथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यः शरीरमुत्पन्नं पुरुषार्थकारित्वादुपादीयते इति?॥ ६१॥

न; साध्यसमत्वात्॥ ६२॥

यथा शरीरोत्पत्तिरकर्मनिमित्ता साध्या, तथा सिकताशर्करापाषाणगैरिकाञ्जनप्रभृतीनामप्यकर्मनिमित्तः सर्गः साध्यः। साध्यसमत्वादसाधनमिति। 'भूतेभ्यो मूर्त्युत्पादनवत्' इति चानेन साध्यम्॥ ६२॥

न; उत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः॥ ६३॥

विषमश्चायमुपन्यासः। कस्मात्? निर्बीजा इमा मूर्तय उत्पद्यन्ते, बीजपूर्विका तु शरीरोत्पत्तिः। मातापितृशब्देन लोहितरेतसी बीजभूते गृह्येते। तत्र सत्त्वस्य गर्भवासानुभवनीयं कर्म, पित्रोश्च पुत्रफलानुभवनीये कर्मणी मातुर्गर्भाश्रये शरीरोत्पत्तिं भूतेभ्यः प्रयोजयन्तीत्युपपन्नं बीजानुविधानमिति॥ ६३॥

तथाहारस्य॥ ६४॥

प्रमृक्त भूतों से पुरुषार्थक्रियासमर्थ रथ आदि द्रव्यों की उत्पत्ति देखी जाती है। उससे अनुमान करना चाहिये कि शरीर भी पुरुषार्थक्रियासमर्थ उत्पन्न होता हुआ पुरुष के (धर्माधर्म) गुणान्तरापेक्ष भूतों से उत्पन्न होता है॥ ६०॥

तथापि यहाँ पुनर्जन्म न माननेवाला नास्तिक (चार्वाक) कहता है—

भूतों से अन्यद्रव्योत्पत्ति की तरह शरीरोत्पत्ति होती है॥ ६१॥

जैसे लोक में कर्मनिरपेक्ष भूतों द्वारा निर्मित, मिट्टी, धूल, पत्थर, गेरु, अञ्जन आदि द्रव्य उपभोग साधन होने से प्राप्त किये जाते मिलते हैं; उनमें अदृष्ट सहायक नहीं होता; उसी तरह यह शरीर भी भूतों से उत्पन्न हुआ पुरुषार्थ-साधन होने से उपादेय है, इसमें कर्म (अदृष्ट) की क्या अपेक्षा है?

इस हेतु के साध्यसम होने से (आप ऐसा) नहीं (कह सकते)॥ ६२॥

जैसे आपको 'अकर्मनिमित्तक शरीरोत्पत्ति' सिद्ध करनी है, उसी तरह 'उक्त सिकतादि द्रव्यों की सृष्टि भी अकर्मनिमित्तक है'—यह भी आपको सिद्ध करना पड़ेगा; अतः इस हेतु के साध्यसम होने से यह हेत्वाभास है, अतः इससे कोई अनुमान नहीं बन सकता॥ ६२॥

अथवा, भूतों द्वारा सिकता पाषाणादि के उत्पादन से इस शरीरोत्पत्ति की समानता

नहीं है; क्योंकि इस में माता-पिता निमित्त हैं॥ ६३॥

आपका सिकतापाषाणादि का दृष्टान्त प्रकृत से विरुद्ध है, क्योंकि उक्त सिकतादि द्रव्य निर्बीज उत्पन्न होते हैं और यह शरीरोत्पत्ति (माता-पिता के) बीज से होती है। 'मातापितृ'-शब्द से उनके रजःशुक्र बीजरूप में गृहीत होते हैं। उनमें से प्राणी को गर्भवास के दुःखादि अनुभावक कर्म के अनुरूप भोगने पड़ते हैं तथा माता पिता को पुत्रजन्म-सुखादि के अनुभावक कर्म होते हैं। इस प्रकार ये सब कर्म मिलकर माता के गर्भाशय में शरीरोत्पाद को भूतों के सहारे प्रयुक्त करते हैं—यों बीज शरीरोत्पत्ति में साक्षात्कारण सिद्ध हो गया॥ ६३॥

उत्पत्तिनिमित्तत्वादिति प्रकृतम्। भुक्तम् पीतम्=आहारः तस्य पक्तिनिर्वृत्तं रसद्रव्यम् मातृशरीरे चोपचिते बीजे गर्भाशयस्थे बीजसमानपाकम्, मात्रया चोपचयो बीजे यावद्व्यूह-समर्थः सञ्चय इति। सञ्चितं चार्बुदमांसपेशीकललकण्डरशिरःपाण्यादिना च व्यूहेनेन्द्रिया-धिष्ठानभेदेन व्यूह्यते, व्यूहे च गर्भनाड्यावतारितं रसद्रव्यमुपचीयते यावत्प्रसवसमर्थमिति। न चायमन्नपानस्य स्थाल्यादिगतस्य कल्पत इति। एतस्मात् कारणात् कर्मनिमित्तत्वं शरीरस्य विज्ञायते इति॥ ६४॥

प्राप्तौ चानियमात्॥ ६५॥

न सर्वो दम्पत्योः संयोगो गर्भाधानहेतुर्दृश्यते। तत्रासति कर्मणि न भवति, सति च भवतीत्यनुपपन्नो नियमाभाव इति, कर्मनिरपेक्षेषु भूतेषु शरीरोत्पत्तिहेतुषु नियमः स्यात्। न ह्यत्र कारणाभाव इति॥ ६५॥

अथापि—

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म॥ ६६॥

यथा खल्विदं शरीरं धातुप्राणसंवाहिनीनां नाडीनां शुक्रान्तानां धातूनां च स्नायुत्वगस्थि-शिरापेशीकललकण्डराणां च शिरोबाहूदराणां सक्थ्नां च कोष्ठगानां वातपित्तकफानां च मुख-कण्ठहृदयामाशयपक्वाशयाधःस्रोतसां च परमदुःखसम्पादनीयेन सन्निवेशेन व्यूहनमशक्यं पृथिव्यादिभिः कर्मनिरपेक्षैरुत्पादयितुमिति 'कर्मनिमित्ता शरीरोत्पत्तिः' इति विज्ञायते।

तथा आहार के॥ ६४॥

शरीरोत्पत्तिनिमित्तक होने से यह शरीरोत्पाद निर्निमित्तक नहीं है। खाया पीया हुआ अन्न जल 'आहार' कहलाता है। उस आहार के पाक से बना रसद्रव्य मातृशरीर में उपचित गर्भाशयस्थ बीज में सम्मिलित होकर उसके तुल्य पाकवाला हो जाता है, वह उस बीज में इतनी मात्रा में सम्मिलित होता है कि गर्भ की आकृति बन जाय। सम्मिलित हुआ वह रस अर्बुद, मांसपेशी, कलल, कण्डरा (स्नायु), सिर, हाथ पैर आदि आकारों द्वारा इन्द्रियाधिष्ठानभेद से अवयवी बनता जाता है। और गर्भनाडी से पहुँचा हुआ रस उस आकार में उपचित होता रहता है जब तक कि प्रसव न हो जाय। यह इतनी लम्बी चौड़ी सूक्ष्म प्रक्रिया स्थाल्यादिगत अन्नपान (आहार) के विषय में कल्पित नहीं की जा सकती। इस कारण, 'शरीर कर्मनिमित्त है'—ऐसा समझा जाता है॥ ६४॥

दम्पति-संयोग में नियम न होने से भी॥ ६५॥

लोक में सभी स्त्री-पुरुषों का संयोग गर्भस्थिति का हेतु नहीं देखा जाता। वैसा (गर्भ-स्थित्यनुकूल) अदृष्ट कर्म न रहने से गर्भस्थिति नहीं होती, अनुकूल अदृष्ट होने से गर्भस्थिति हो जाती है। इस रीति से नियमाभाव उपपन्न नहीं हुआ। कर्मनिरपेक्ष भूतों को शरीरोत्पत्तिहेतु मानने पर नियम बन जायगा कि सभी स्त्री-पुरुषों का संयोग शरीरोत्पत्ति कर सकेगा; क्योंकि इस नियम के न बनने में कोई विरोधी कारण आप नहीं दिखा सकते। हमारे मत में तो अदृष्ट कर्म विरोधी कारण है॥ ६५॥

एक बात और—

वह अदृष्टकर्म शरीरोत्पत्तिनिमित्त की तरह संयोगोत्पत्ति का भी निमित्त है॥ ६६॥

जैसे यह सूक्ष्मावयवारब्ध शरीर बना हुआ है, जिसमें कि स्थूलसूक्ष्म धातु तथा प्राणवाही नाडियों, शुक्रपर्यन्त सात धातुओं, स्नायु-त्वक्-अस्थि-शिरा-पेशी-कलल-कण्डराओं, शिर-बाहु-उदर, जाँघ, कोष्ठगत वात-पित्त-कफ, मुख-कण्ठ-हृदय-आमाशय-पक्वाशय-अधःस्रोतों (मल-

एवं च प्रत्यात्मनियतस्य निमित्तस्याभावान्निरतिशयैरात्मभिः सम्बन्धात् सर्वात्मनां च समानैः पृथिव्यादिभिरुत्पादितं शरीरम्, पृथिव्यादिगतस्य च नियमहेतोरभावात् सर्वात्मना सुखदुःखसंवित्त्यायतनं समानं प्राप्तम्?

यत्तु प्रत्यात्मं व्यवतिष्ठते, तत्र शरीरोत्पत्तिनिमित्तं कर्म व्यवस्थाहेतुरिति विज्ञायते। परिपच्यमानो हि प्रत्यात्मनियतः कर्माशयो यस्मिन्नात्मनि वर्तते तस्यैवोपभागायतनं शरीरमुत्पाद्य व्यवस्थापयति। तदेवम् 'शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगनिमित्तं कर्म' इति विज्ञायते। प्रत्यात्मव्यवस्थानं तु शरीरस्यात्मना संयोगं प्रचक्ष्महे इति॥ ६६॥

एतेनानियमः प्रयुक्तः॥ ६७॥

योऽयमकर्मनिमित्ते शरीरसर्गे सत्यनियम इत्युच्यते, अयं शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्मेत्यनेनानियमः प्रत्युक्तः। कस्तावदयं नियमः? यथैकस्यात्मन शरीरं तथा सर्वेषामिति नियमः। अन्यस्यान्यथा, अन्यस्यान्यथेत्यनियमो भेदो व्यावृत्तिर्विशेष इति। दृष्टा च जन्मव्यावृत्तिः-उच्चाभिजनो निकृष्टाभिजन इति, प्रशस्तं निन्दितमिति, व्याधिबहुलम-रोगमिति, समग्रं विकलमिति, पीडाबहुलं सुखबहुलमिति, पुरुषातिशयलक्षणोपपन्नं विपरीत-मिति, प्रशस्तलक्षणं निन्दितलक्षणमिति, पट्विन्द्रियं मृद्विन्द्रियमिति। सूक्ष्मश्च भेदोऽपरिमेयः।

मूत्रेन्द्रियों) को यथास्थान एकत्र कर उन्हें आकार देना अतीव कष्टसाध्य है, अतएव कर्मनिरपेक्ष पृथिवी आदि जड़ महाभूतों द्वारा ऐसा उत्पाद होना अशक्य ही है, अतः 'शरीरोत्पत्ति कर्मनिमित्तक ही है'—ऐसा समझ में आता है।

शङ्का—इस तरह प्रत्यात्मनियत किसी निमित्त के अभाव होने से समानतया स्थित सभी जीवात्माओं से सम्बन्ध होने के कारण सभी आत्माओं के लिये पृथिवी आदि से उत्पादित यह शरीर समान है और पृथिव्यादि में भी कोई व्यावर्तक हेतु न होने से सभी आत्माओं के सभी शरीर होने से सुख-दुःखसंवित्ति का समान रूप से अधिष्ठान होने लगेगा?

उत्तर—'एक आत्मा का एक शरीर अधिष्ठान है—इस व्यवस्था में शरीरोत्पत्तिनिमित्तक कर्म हेतु है'—ऐसा समझा जाता है। परिपाक को प्राप्त हुआ प्रत्यात्मनियत कर्माशय जिस आत्मा में रहता है, उसी के लिये एक उपभोगाधिष्ठान शरीर उत्पन्न कर उसी शरीर के साथ उस आत्मा के संयोग को उपभोग का साधन बनाता है। इस प्रकार जैसे वह अदृष्ट शरीरोत्पत्ति में निमित्त है, उसी तरह उस आत्मा का उस शरीर से उपभोगक्षम सम्बन्ध कराने में भी वही निमित्त है, ऐसा समझ में आता है। 'प्रत्यात्मव्यवस्था' का तात्पर्य हम 'उस शरीर से उसी आत्मा का संयोग' कहते हैं॥ ६६॥

अब अकर्मनिमित्त शरीरोत्पत्तिरूप साङ्ख्यमत का खण्डन करते हैं—

इस (उपर्युक्त व्यवस्था) से (साङ्ख्यसम्मत) अनियमवाद का भी उत्तर दे दिया गया॥ ६७॥

जो यह 'अकर्मनिमित्तक ही शरीरसृष्टि होती है, इसमें अनियम होगा'—ऐसा कहा था, वह भी प्रत्याख्यात हो गया। नियम क्या है? 'एक आत्मा के शरीर की तरह सब आत्माओं को शरीर होता है'—यह नियम है। 'किसी की एक तरह और किसी की दूसरी तरह शरीरोत्पत्ति होती है' यह अनियम है। इसी को भेद, व्यावृत्ति या विशेष कह देते है। यह विशेषता लोक में देखी भी जाती है, जैसे—एक शरीर उच्च कुल में उत्पन्न होता है, दूसरा नीच कुल में; एक शरीर पूजित होता है, दूसरा निन्दित; एक शरीर सुन्दर, सभी अवयवों से सम्पन्न होता है, दूसरा बेडोल, टेढे मेढे अवयवों वाला;

सोऽयं जन्मभेदः प्रत्यात्मनियतात् कर्मभेदादुपपद्यते। असति कर्मभेदे प्रत्यात्मनियते निरतिशयत्वादात्मनां समानत्वाच्च पृथिव्यादीनां नियमहेतोरभावात् सर्वं सर्वात्मनां स्यात्। न त्विदमित्थम्भूतं जन्म, तस्मान्नाकर्मनिमित्ता शरीरोत्पत्तिरिति।

उपपन्नश्च तद्वियोगः, कर्मक्षयोपपत्तेः। कर्मनिमित्ते शरीरसर्गे तेन शरीरेणात्मनो वियोग उपपन्नः। कस्मात्? कर्मक्षयोपपत्तेः। उपपद्यते खलु कर्मक्षयः। सम्यग्दर्शनात् प्रक्षीणे मोहे वीतरागः पुनर्भवहेतु कर्म कायवाङ्मनोभिर्न करोति इत्युत्तरस्यानुपचयः, पूर्वोपचितस्य विपाकप्रतिसंवेदनात् प्रक्षयः। एवं प्रसवहेतोरभावात् पतितेऽस्मिन् शरीरे पुनः शरीरान्तरानुपपत्तेरप्रतिसन्धिः। अकर्मनिमित्ते तु शरीरसर्गे भूतक्षयानुपपत्तेस्तद्वियोगानुपपत्तिरिति॥६७॥

तददृष्टकारितमिति चेत्[1]? पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे॥६८॥

'अदर्शनं खल्वदृष्टमित्युच्यते अदृष्टकारिता भूतेभ्यः शरीरोत्पत्तिः। न जात्वनुत्पन्ने शरीरे द्रष्टा निरधिष्ठानो दृश्यं पश्यति, तच्चास्य दृश्यं द्विविधम्-विषयश्च, नानात्वं चाव्यक्तात्मनोः; तदर्थः शरीरसर्गः। तस्मिन्नवसिते चरितार्थानि भूतानि न शरीरमुत्पादयन्तीत्युपपन्नः शरीरवियोगः' इति, एवं चेन्मन्यसे?

एक शरीर सुख भोगनेवाला, दूसरा सदा डाकू आदि पातक पुरुषों के चिह्नों से युक्त; एक सुलक्षण, दूसरा कुलक्षण; एक कार्यकुशल, दूसरा अकुशल—ये कुछ स्थूल भेद गिना दिये। सूक्ष्म भेद तो अपरिमेय तथा असंख्य हैं।

यह उपर्युक्त जन्मभेद प्रत्यात्मनियत कर्मभेद से उपपन्न होता है।

यदि प्रत्यात्मनियत कर्मभेद न मानोगे तो आत्माओं में समानता होने तथा पृथिवी आदि के पृथिव्यादिगत नियमहेतु के अभाव से सभी आत्माओं को समान शरीर उत्पन्न होने लगेगा। जबकि ऐसा लोक में देखा नहीं जाता। अतः मानना पड़ेगा कि शरीरोत्पत्ति कर्मनिमित्तक ही है।

इस सिद्धान्त से, तन्निमित्तक कर्मों के क्षीण होने पर उस शरीर का नाश भी सम्भव है। जब हम कर्मनिमित्तक शरीरसृष्टिसिद्धान्त मान लेते हैं तो उस सिद्धान्त से 'एक न एक दिन शरीर-आत्मा का वियोग' भी सिद्ध है; क्योंकि जिन कर्मों से यह शरीर उत्पन्न हुआ, वे कभी न कभी तो क्षीण होंगे ही, उस दिन उक्त वियोग सम्भव है। कर्म क्षीण होते हैं—यह बात युक्ति से भी समझ में आ जाती है। क्योंकि प्रमाणादि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से अज्ञान (मोह) के नष्ट होने पर तन्मूलक राग दूर हो जाता है, राग के दूर होने पर पुनरुत्पत्तिकारण त्रिविध (शरीर वाणी या मन से) कर्म नहीं होते कि जिनके उपभोग के लिये पुनः शरीरोत्पत्ति हो, यों आगामी कर्म बनेंगे नहीं, अतीतों का उपभोग से क्षय हो चुका। इस प्रकार, उत्पत्तिहेतु के न रहने से वर्तमान शरीर के विनष्ट होने पर पुनः शरीरान्तरोत्पाद में प्रतिसन्धान नहीं होगा। अकर्मनिमित्तक शरीर सृष्टि मानने पर भूतों के क्षीण न होने से शरीरपरम्परा कभी रुकेगी नहीं तो आपके (सांख्य के) मत में अपवर्ग कैसा!॥६७॥

यह शरीरवियोग अदृष्टकारित है, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि यों तो अपवर्ग के बाद भी अदृष्टवशात् पुनः शरीरोत्पत्ति होने लगेगी॥६८॥

शङ्का—'अदृष्ट' से तात्पर्य है 'अदर्शन'। भूतों से शरीरोत्पत्ति अदृष्टवश होती है; क्योंकि बिना शरीर के उत्पन्न हुए अधिष्ठान के बिना द्रष्टा (पुरुष) दृश्य को देखेगा कैसे! इसका यह दृश्य दो प्रकार का है—१. दृश्य, तथा २. अव्यक्त व आत्मा का नानात्व, उसके लिये यह शरीरोत्पत्ति होती है।

---

१. एतावत्पर्यन्तं भाष्यमस्ति क्वचित्पुस्तके।

पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे। पुनः शरीरोत्पत्तिः प्रसज्यते इति। या चानुत्पन्ने शरीरे दर्शनानुत्पत्तिरदर्शनाभिमता, या चापवर्गे शरीरनिवृत्तौ दर्शनानुत्पत्तिरदर्शनभूता—नैतयोरदर्शनयोः क्वचिद्विशेष इत्यदर्शनस्यानिवृत्तेरपवर्गे पुनः शरीरोत्पत्तिप्रसङ्ग इति।

चरितार्थता विशेष इति चेत्?

न, करणाकरणयोरारम्भदर्शनात्[1]। चरितार्थानि भूतानि दर्शनावसानान्न शरीरान्तरमारभन्ते इत्ययं विशेषः—एवं चेदुच्यते? न; करणाकरणयोरारम्भदर्शनात्। चरितार्थानां भूतानां विषयोपलब्धिकरणात् पुनः पुनः शरीरारम्भो दृश्यते, प्रकृतिपुरुषयोर्नानात्वदर्शनस्याकरणान्निरर्थकः शरीरारम्भः पुनर्दृश्यते। तस्मादकर्मनिमित्तायां भूतसृष्टौ न दर्शनार्था शरीरोत्पत्तिर्युक्ता, युक्ता तु कर्मनिमित्ते सर्गे दर्शनार्था शरीरोत्पत्तिः।

कर्मविपाकसंवेदनं दर्शनमिति। तददृष्टकारितमिति कस्यचिद्दर्शनम्-अदृष्टं नाम परमाणूनां गुणविशेषः क्रियाहेतुः, तेन प्रेरिताः परमाणवः सम्मूर्च्छिताः शरीरमुत्पादयन्तीति? तत्र मनः समाविशति स्वगुणेनादृष्टेन प्रेरितम्। समनस्के शरीरे द्रष्टुरुपलब्धिर्भवतीति?

इस उत्पत्ति के हो जाने पर भूत अपना कार्य कर चुके; अतः पुनः शरीरोत्पत्ति न करेंगे, यों शरीरवियोग हमारे मत में भी उपपन्न है?

उत्तर—यदि ऐसा मानते हो तो अपवर्ग के बाद भी उस दृश्य के लिये शरीरोत्पाद होना कौन रोकेगा! अतः पुनः शरीरोत्पत्ति होने लगेगी; क्योंकि आपकी दोनों बातों में शरीरोत्पत्ति के पूर्व दर्शनाभावात्मक अदर्शन और शरीरध्वंस (अपवर्ग) में होनेवाला दर्शनाभावात्मक अदर्शन—दोनों में अन्तर क्या हुआ! अतः उक्त अदर्शन की निवृत्ति न होने से अपवर्गानन्तर भी शरीरोत्पादप्रसङ्ग हो सकता है।

शङ्का—उक्त प्रथम अदर्शन में प्रकृतिपुरुष का नानात्वादृश्यत्व करना ही प्रयोजन है, वह निवृत्त कर देने से शरीरोत्पत्ति का प्रयोजन समाप्त हो गया, अब अपवर्ग के बाद उसके निष्प्रयोजन होने से वह शरीरोत्पत्ति नहीं करेगा?

आप करण तथा अकरण का आरम्भ देखा जाने से ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि उक्त कार्य कर देने से चरितार्थ होने पर भी भूतों द्वारा पुनः पुनः विषयोपलब्धिनिमित्तवशात् शरीरारम्भ देखा जाता है; दूसरे, प्रथम प्रकार का अदर्शन तो प्रथम शरीरोत्पत्ति से ही निवृत्त हो गया, अब द्वितीय प्रकार के दर्शनहेतु में पुनः पुनः शरीरोत्पत्ति होगी, तब भी उक्त नानात्व के दर्शन के न होने पर भी पुनः पुनः शरीरारम्भ होता है तो 'अकर्मनिमित्तक शरीरोत्पत्ति' सिद्धान्त में दर्शन के लिये भूतसृष्टि का मानना अनुपपन्न ही है। 'कर्मनिमित्तक शरीरोत्पत्ति' सिद्धान्त में दर्शनमात्र के लिये हुई भूतसृष्टि उपपन्न हो सकती है। अतः यही सिद्धान्त उचित है।

जैनमतखण्डन—

१. कुछ वादी कर्मविपाक संवेदन (कर्मफलभोग) को (अदृष्टजन्य) मानते हैं। वे उस 'अदृष्टकारित' का यों प्रतिपादन करते हैं—परमाणुओं का गुणविशेष 'अदृष्ट' है, वह क्रियाकारण है। उस कारण से एकत्र हुए पार्थिवादि परमाणु शरीर को उत्पन्न करते हैं, अदृष्ट स्वगुण से प्रेरित होकर मन उस शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। उक्त सांख्याभिमत द्रष्टा के इस मनःसहित शरीर से दृश्योपलब्धि होती है?

---

१. न्यायसूचीनिबन्धे न परिगणितम्, वृत्तिकृता च न व्याख्यातमतो नैतत्सूत्रमपि तु भाष्यमेव।

एतस्मिन् वै दर्शने गुणानुच्छेदात् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे। अपवर्गे शरीरोत्पत्तिः परमाणुगुणस्यादृष्टस्यानुच्छेद्यत्वादिति॥६८॥

मनःकर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः॥६९॥

मनोगुणेनादृष्टेन समावेशिते मनसि संयोगव्युच्छेदो न स्यात्, तत्र किंकृतं शरीरादपसर्पणं मनस इति। कर्माशयक्षये तु कर्माशयान्तराद्विपच्यमानादपसर्पणोपपत्तिरिति। अदृष्टादेवापसर्पणमिति चेत्—योऽदृष्टः शरीरोपसर्पणहेतुः, स एवापसर्पणहेतुरपीति? न; एकस्य जीवनप्रायणहेतुत्वानुपपत्तेः। एवं च सति एकोऽदृष्टो जीवनप्रायणयोर्हेतुरिति प्राप्तम्, नैतदुपपद्यते॥६९॥

नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः॥७०॥

विपाकसंवेदनात् कर्माशयक्षये शरीरपातः **प्रायणम्**, कर्माशयान्तराच्च पुनर्जन्म। भूतमात्रात्तु कर्मनिरपेक्षाच्छरीरोत्पत्तौ कस्य क्षयाच्छरीरपातः प्रायणमिति-प्रायणानुपपत्तेः खलु वै नित्यत्वप्रसङ्गं विद्मः। यादृच्छिके तु प्रायणे प्रायणभेदानुपपत्तिरिति॥७०॥

पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्ग इत्येतत् समाधित्सुराह—

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत् स्यात्?॥७१॥

यथा अणोः श्यामता नित्या अग्निसंयोगेन प्रतिबद्धा न पुनरुत्पद्यते, एवमदृष्टकारितं शरीरमपवर्गे पुनर्नोत्पद्यत इति?॥७१॥

इस मत में भी उक्त अदृष्ट गुणविशेष का उच्छेद न होने से, अपवर्गानन्तर भी शरीरोत्पाद हो सकता है, अतः यह मत भी सदोष है॥६८॥

२. इसी मत में दूषणान्तर दिखाते हैं—

मनःकर्मनिमित्त मानने पर उसका संयोगोच्छेद नहीं बनेगा॥६९॥

अदृष्ट स्वगुण से प्रेरित मन जब एक बार शरीर में प्रविष्ट हो गया तो फिर वह उस शरीर से वियुक्त क्यों होगा, जबकि वैसा कोई कारण न हो! 'कर्मनिमित्तक उत्पत्ति' सिद्धान्त में कर्म के क्षीण होने से वह मन उस शरीर से वियुक्त हो सकता है। यदि यह कहें कि उसी स्वगुण अदृष्ट से, जो संयोग कराता है, वियोग भी हो जायगा? तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि एक ही कारण जीवन तथा मृत्यु का कारक नहीं बन सकता, जबकि आप उस एक ही कारण को जीवन तथा मृत्यु का कारक बता रहे हैं! अतः यह मत भी समीचीन नहीं॥६९॥

विनाश (मृत्यु) न होने से शरीर में नित्यत्व-प्रसङ्ग होने लगेगा॥७०॥

विपाक (कर्मफल) के भोग से उस कर्माशय के क्षीण होने पर शरीरनाश (मृत्यु) हो जाता है, तथा अन्य कर्माशय होने पर 'जन्म' होता है। यदि कर्मनिरपेक्ष भूतमात्र से शरीरोत्पत्ति मानें तो किसके क्षीण होने पर शरीरनाश होगा! जब शरीरनाश नहीं होगा तो उसमें नित्यत्व आ गया—ऐसा हम समझते हैं। निष्कर्ष यह है कि स्वेच्छया नाश मानें तो कदाचित् तब भी नाश अनुपपन्न ही है॥७०॥

इस मत में, अपवर्ग के बाद पुनः शरीरोत्पत्ति होने लगेगी—इस शङ्का का समाधान करना चाहते हुए कहते हैं—

अणु की श्यामता के नित्यत्व की तरह यह शरीर अपवर्ग होने पर विनष्ट हो जायगा?॥७१॥

जैसे अणु की श्यामता (कृष्णत्व) नित्य है; क्योंकि वह अग्निसंयोग से एक बार विनष्ट होकर पुनः उत्पन्न नहीं होती; उसी तरह अपवर्ग होने पर हमारे मत में पुनः शरीरोत्पत्ति नहीं होगी?॥७१॥

न; अकृताभ्यागमप्रसङ्गात्॥७२॥

नायमस्ति दृष्टान्तः, कस्मात्? **अकृताभ्यागमप्रसङ्गात्**। अकृतम्=प्रमाणतोऽनुपपन्नम्, तस्याभ्यागमोऽभ्युपपत्तिर्व्यवसायः। एतच्छ्रद्दधानेन प्रमाणतोऽनुपपन्नं मन्तव्यम्। तस्मान्नायं दृष्टान्तः। न प्रत्यक्षं न चानुमानं किञ्चिदुच्यत इति। तदिदं दृष्टान्तस्य साध्यसमत्वमभिधीयत इति।

अथ वा—**नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्**। अणुश्यामतादृष्टान्तेनाकर्मनिमित्तां शरीरोत्पत्तिं समादधानस्याकृताभ्यागमप्रसङ्गः। अकृते सुखदुःखहेतौ कर्मणि पुरुषस्य सुखं दुःखमभ्यागच्छतीति प्रसज्येत। ओमिति ब्रुवतः प्रत्यक्षानुमानागमविरोधः।

प्रत्यक्षविरोधस्तावद्—भिन्नमिदं सुखदुःखं प्रत्यात्मवेदनीयत्वात् प्रत्यक्षं सर्वशरीरिणाम्। को भेदः? तीव्रं मन्दं चिरमाशु नानाप्रकारमेकप्रकारमिति एवमादिर्विशेषः। न चास्ति प्रत्यात्मनियतः सुखदुःखहेतुविशेषः, न चासति हेतुविशेषे फलविशेषो दृश्यते। कर्मनिमित्ते तु सुखदुःखयोगे कर्मणां तीव्रमन्दतोपपत्तेः कर्मसञ्चयानां चोत्कर्षापकर्षभावान्नानाविधैकविधभावाच्च कर्मणां सुखदुःखभेदोपपत्तिः। सोऽयं हेतुभेदाभावाद् दृष्टः सुखदुःखभेदो न स्यादिति प्रत्यक्षविरोधः!

तथाऽनुमानविरोधः—दृष्टं हि पुरुषगुणव्यवस्थानात् सुखदुःखव्यवस्थानम्। यः खलु चेतनावान् साधननिर्वर्तनीयं सुखं बुद्ध्वा तदीप्सन् साधनावाप्तये प्रयतते स सुखेन युज्यते, न

अकृताभ्यागम दोष होने से यह दृष्टान्त उचित नहीं॥७२॥

यह दृष्टान्त यहाँ देना उचित नहीं; क्योंकि स्वयं इसमें अकृताभ्यागम दोष है। 'अकृत' अर्थात् प्रमाण से अनुपपन्न, उसका अभ्यागम अर्थात् अभ्युपपत्ति (स्वीकृति), व्यवसाय। श्यामता के दृष्टान्त से शरीरोत्पत्ति न माननेवाले को प्रमाण से अनुपपन्न (अपने हठ को सिद्ध करने के लिये प्रमाणादि की आवश्यकता न माननेवाला) ही समझना चाहिये। अतः यह दृष्टान्त नहीं है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष और अनुमान का आश्रय लेकर नहीं कहा जा रहा है। यों यह दृष्टान्त स्वयं साध्य होने से असिद्ध है।

अथवा सूत्र का व्याख्यान यों समझना चाहिये—अणु श्यामता के दृष्टान्त से अकर्मनिमित्तक शरीरोत्पत्ति माननेवाले को अकृताभ्यागमप्रसङ्ग होगा; क्योंकि तब पुरुष सुख-दुःख कारणों वाले कर्म को न करने पर भी सुख-दुःख प्राप्त करने लगेगा। यदि यह अकृताभ्यागम स्वीकार करते हो तो आपके इस में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम—तीनों ही प्रमाणों से विरोध उपस्थित होगा।

१. **प्रत्यक्षप्रमाण-विरोध,** जैसे—सभी प्राणियों के ये प्रत्यात्मवेदनीय सुख-दुःख प्रत्यक्षतः भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। भेद क्या है? कोई सुख-दुःख तीव्र तथा कोई मन्द होता है, कोई चिरकाल तथा कोई अल्पकाल तक ठहरता है। यों, नाना प्रकार तथा एक प्रकार का देखा जाने से उसमें भेद ज्ञात होता है। परन्तु आपके मत में नियत सुख-दुःखहेतु विशेष नहीं दिखायी देता, हेतुविशेष के न रहने पर फलभेद भी नहीं होगा। कर्मनिमित्तक सुख-दुःखसम्बन्ध मानने पर, कर्मों की तीव्रता या मन्दता के उपपादन से या कर्मसञ्चय के उत्कर्ष अपकर्ष से उससे होने वाले सुख-दुःख में नानाप्रकारता तथा एकप्रकारता आ ही जायेंगी—अतः कर्मों से सुख-दुःख-भेद बन जायगा। परन्तु आपके मत में हेतुभेद न होने से प्रत्यक्षदृष्ट सुख-दुःख-भेद उपपन्न न होगा—यह प्रत्यक्षप्रमाण से विरोध है!

२. **अनुमानप्रमाण-विरोध,** जैसे—पुरुषगुणानुरोध से सुख दुःख की उत्पत्ति लोक में उपपन्न

विपरीतः। यश्च साधननिर्वर्तनीयं दुःखं बुद्ध्वा तज्जिहासुः साधनपरिवर्जनाय यतते स च दुःखेन त्यज्यते, न विपरीतः। अस्ति चेदं यत्नमन्तरेण चेतनानां सुखदुःखव्यवस्थानम्, तेनापि चेतनगुणान्तरव्यवस्थाकृतेन भवितव्यमित्यनुमानम्। तदेतदकर्मनिमित्ते सुखदुःखयोगे विरुध्यते इति। तच्च गुणान्तरमसंवेद्यत्वाददृष्टं विपाककालनियमाच्चाव्यवस्थितम्। बुद्ध्यादयस्तु संवेद्याः क्षापवर्गिणश्चेति।

अथागमविरोधः—बहु खल्विदमार्षमृषीणामुपदेशजातमनुष्ठानपरिवर्जनाश्रयमुपदेशफलं च। शरीरिणां वर्णाश्रमविभागेनानुष्ठानलक्षणा प्रवृत्तिः, परिवर्जनलक्षणा निवृत्तिः। तच्चोभयमेतस्यां दृष्टौ, नास्ति कर्म सुचरितं दुश्चरितं वा, कर्मनिमित्तः पुरुषाणां सुखदुःखयोग इति विरुध्यते।

सेयं पापिष्ठानां मिथ्यादृष्टिः—'अकर्मनिमित्ता शरीरसृष्टिः, अकर्मनिमित्तः सुखदुःखयोगः' इति॥ ७२॥

॥ इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्॥
॥ समाप्तश्चायं तृतीयोऽध्यायः॥

होती है। जो चेतन प्राणी साधन से उत्पादनीय सुख को प्रमाणों द्वारा जानकर उसको चाहता हुआ उक्त साधनप्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है तो वह सुखी होता है, दूसरा नहीं। और जो साधनों से उत्पादनीय दुःख को प्रमाणों द्वारा जानकर उसको छोड़ने की इच्छा करता हुआ उक्त साधननिवृत्ति के लिये प्रयत्न करता है तो वह दुःखों से छुटकारा पा जाता है, दूसरा नहीं पाता। हाँ, कभी कभी प्रत्यक्षतः पुरुषप्रयत्न के विना ही अतर्कित सुख-दुःख उपस्थित हो जाते हैं, इस प्रसङ्ग में यही अनुमान करना पड़ता है कि यह अतर्कित सुख-दुःख भी इस चेतन के किसी अन्य गुणविशेष के कारण उपपन्न हुआ है। यह अनुमान अकर्मनिमित्तक सृष्टि मानने पर नहीं बन सकता। यह अतर्कित सुखदुःखोत्पादक पुरुषगुणान्तर न प्रत्यक्ष है, न क्षणिक, अपितु बुद्ध्यादि पुरुषगुणों की तरह विलक्षण है; क्योंकि यह अदृष्ट गुणविशेष असंवेद्य है, परन्तु विपाककालनियम से बँधा हुआ नहीं है। जैसे बुद्ध्यादि केवल संवेद्य भी हैं, तथा विनाशी भी।

३. **आगमप्रमाण-विरोध,** जैसे—यह हमारा साङ्गोपाङ्ग ऋषिप्रणीत धर्मशास्त्र, जिसमें ऋषियों के विधिनिषेधपरक उपदेश भरे पड़े हैं, तथा उन उपदेशों पर आचरण करने वालों के दृष्टान्त भी वर्णित हैं! इन शास्त्रों में प्राणियों के लिये वर्णाश्रमभेद से विधिपरक प्रवृत्ति तथा निषेधपरक निवृत्ति दिखायी गयी है। यह प्रवृत्ति निवृत्ति अकर्मनिमित्तक सृष्टि माननेवालों के मत में कैसे बनेगी; क्योंकि इनके मत में शुभाचरण या दुराचरण रूप कोई कर्म नहीं कि जिसका फल मिले, जब कि सुकर्म तथा निमित्त से ही सुख-दुःखोत्पत्ति होती हुई देखी जाती है।

अतः 'शरीरोत्पत्ति अकर्मनिमित्तक है, सुख-दुःखसम्बन्ध भी अकर्मनिमित्तक है'—यह मिथ्यादृष्टि अतिशयेन पापपङ्कनिमग्न पुरुषों को ही हो सकती है, शास्त्रप्रमाणसम्पन्न आस्तिकजन तो समग्र सृष्टि को कर्मनिमित्तक ही मानते हैं, अतः उनके मत में कर्मों के क्षीण होने से अत्यन्तापवर्ग सम्पन्न होना उचित ही है॥ ७२॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

[प्रथममाह्निकम्]

प्रवृत्तिदोषसामान्यपरीक्षाप्रकरणम् [१-२]

मनसोऽनन्तरा प्रवृत्तिः परीक्षितव्या। तत्र खलु यावद्धर्माधर्माश्रयशरीरादि परीक्षितम्, सर्वा सा प्रवृत्तेः परीक्षेत्याह—

प्रवृत्तिर्यथोक्ता[1]॥ १॥

तथा परीक्षितेति॥ १॥

प्रवृत्त्यनन्तरास्तर्हि दोषाः परीक्ष्यन्ताम्? इत्यत आह—

तथा दोषाः॥ २॥

परीक्षिता इति। बुद्धिसमानाश्रयत्वादात्मगुणाः प्रवृत्तिहेतुत्वात् पुनर्भवप्रतिसन्धानसामर्थ्याच्च संसारहेतवः, संसारस्यानादित्वादनादिना प्रबन्धेन प्रवर्तन्ते; मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तत्त्वज्ञानात्, तन्निवृत्तौ रागद्वेषप्रबन्धोच्छेदेऽपवर्ग इति प्रादुर्भावतिरोधानधर्मकाः-इत्येवमाद्युक्तं दोषाणामिति॥ २॥

चतुर्थ अध्याय

[प्रथममाह्निकम्]

उद्देशसूत्र (१.१.९) में मन के बाद प्रवृत्ति का नाम गिनाया गया है, अतः मन की परीक्षा के बाद **'प्रवृत्ति' की परीक्षा** किया जाना आवश्यक है। परन्तु पीछे जो धर्म, तथा अधर्म के आश्रयभूत शरीरादि की परीक्षा की गयीं, वे सब एक तरह से 'प्रवृत्ति' की ही परीक्षा हैं; क्योंकि प्रवृत्ति धर्माधर्मान्तःपाती है। अतः धर्माधर्म की परीक्षा से उसकी भी परीक्षा हो गयी—इसी आशय को लेकर (सूत्रकार) कहते हैं—

प्रवृत्ति (शरीरादि की परीक्षा) जैसे पीछे वर्णित की जा चुकी है॥ १॥

उस वर्णन से ही उसकी परीक्षा हो चुकी। (पीछे हम जैसा उसका लक्षण कर आये हैं, उस लक्षण के सहारे जो कुछ भी हम प्रसङ्ग प्रसङ्ग पर उसके विषय में कह चुके हैं, उसीसे इस (प्रवृत्ति) पर अच्छी तरह विचार किया जा चुका)॥ १॥

तो फिर प्रवृत्ति के बाद परिगणित दोषों की ही परीक्षा कर लें? इस पर कहते हैं—

उसी तरह दोष भी॥ २॥

परीक्षित हो चुके। दोषों के प्रवृत्तितुल्य होने से पूर्वपरीक्षा से दोषों की भी परीक्षा हो चुकी। कहने का तात्पर्य यह है कि दोष बुद्धि के समानाश्रय हैं, यों वे भी आत्मगुण होते हुए प्रवृत्ति के हेतु हैं, और पुनर्जन्म की प्रतिसन्धि कराने में सामर्थ्य रखते हैं, अतः वे भी संसार के हेतु हैं, तथा संसार के अनादि होने से दोष भी अनादि सन्तानरूप से प्रवृत्त होते रहते हैं। (यों दोष प्रादुर्भाव-धर्म वाले हैं। उधर) तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है, मिथ्याज्ञाननिवृत्ति से रागद्वेषसन्तति की उच्छेद हो जाता है, इस उच्छेद हेतु से अपवर्ग हो जाता है! इस तरह दोष प्रादुर्भाव-विनाशवाले हैं। प्रसङ्ग प्रसङ्ग

---

१. वार्त्तिककारास्तु सूत्रोक्तं 'यथा'शब्दं द्वितीयसूत्रस्थेन 'तथा' शब्देन योजयन्ति। 'प्रवृत्तिर्यथोक्ता तथा दोषा अपि' इति तेषां हृदयम्।